मुक्ति-पथ की ओर

लेखक
आचार्य श्री १०८ सुमतिसागर जी के
परम शिष्य श्री १०५ क्षुल्लक
वर्तमान १०८ आ. क. सन्मतिसागर जी

प्रकाशक
श्री शांतिसागर छाणी स्मृति ग्रन्थमाला
बुढ़ाना, बोध-गया

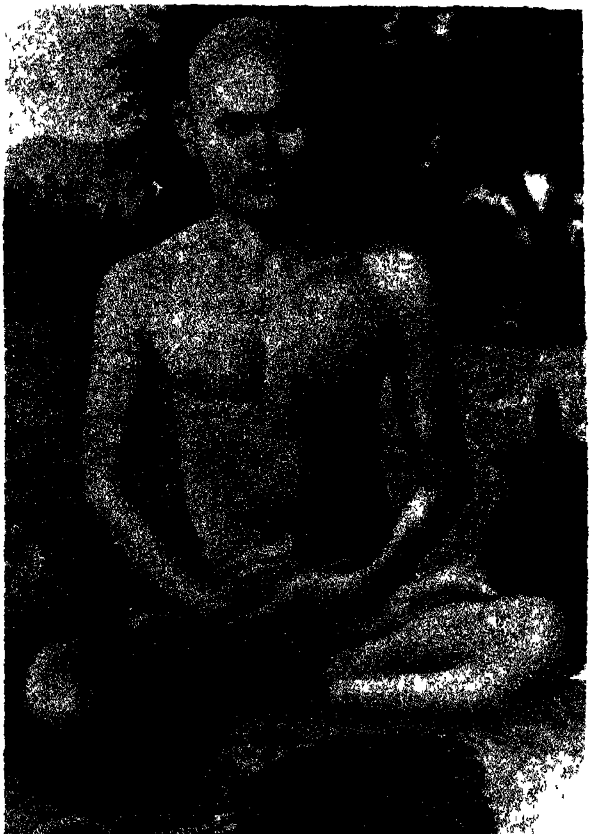
पुनर्मुद्रण
अक्टूबर १९९२
संस्करण : अष्टम
वीर निर्वाण संवत् २५२०

मूल्य : १५ रु

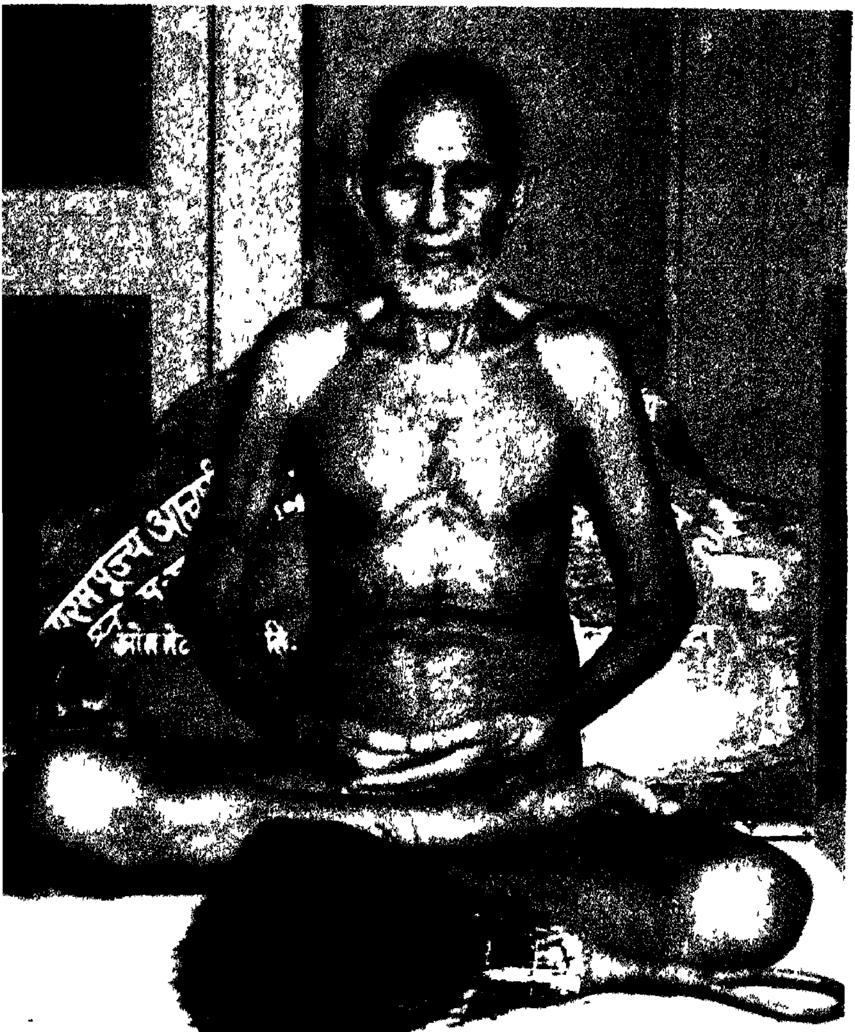
प्रकाशन सौजन्य

श्री नथमल जैन छाबड़ा की मातेश्वरी श्रीमती चाँद देवी छाबड़ा,
हजारीमल नथमल जैन, राँची

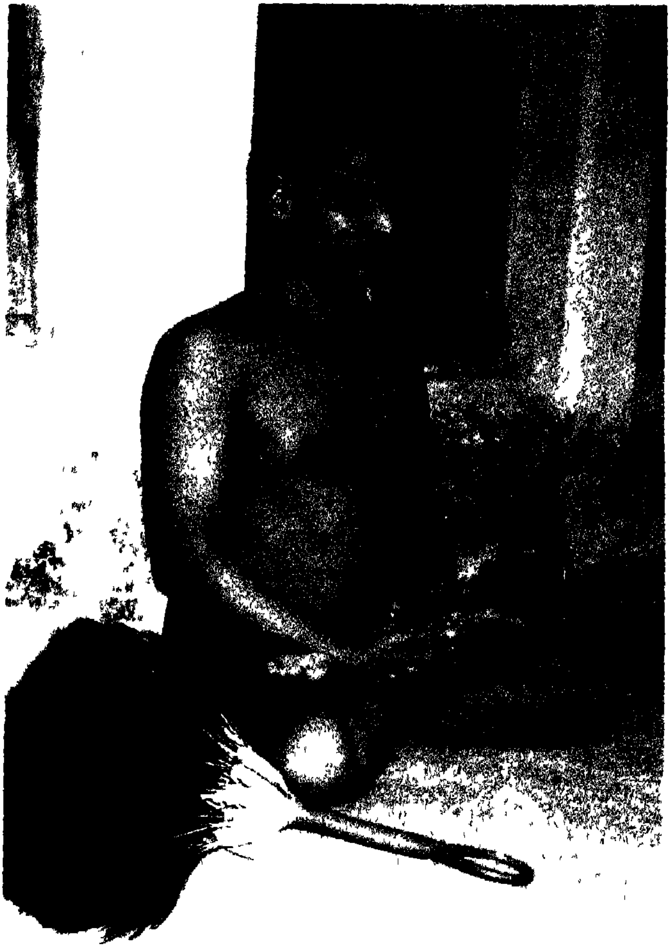
मुद्रक : शकुन प्रिन्टर्स नई दिल्ली – ११० ००२



सन्त शिरोमणि आचार्य
श्री शान्तिसागर जी (उत्तर)



मासोपवासी पट्टाचार्य
श्री सुमतिसागर जी



श्री स्याद्वाद विद्याभूषण सन्मति सागर जी



युवा तपस्वी उपाध्याय
श्री ज्ञानसागर जी

अज्ञानान्धकार के कूप से निकालकर सन्मार्ग (मुक्ति-पथ)
की ओर लगाने वाले सन्त शिरोमणि, धर्म दिवाकर,
मासोपवासी, ज्ञान प्रभाकर, प्रशान्त मूर्त्ति,
श्री १०८ आ रत्न शान्तिसागर जी महाराज (छाणी)
के पट्टाचार्य गुरुवर्य
श्री १०८ आचार्य रत्न सुमति
सागर जी महाराज के कर
कमलो में सादर
समर्पित

— **आ. क. सन्मतिसागर**

आशीर्वाद

परमपूज्य श्री १०८

आचार्य सुमतिसागर जी महाराज
के

परम शिष्य क्षु श्री १०५ सन्मतिसागर जी (वर्तमान आ क श्री १०८ सन्मतिसागर जी) द्वारा 'मुक्ति-पथ की ओर' पुस्तिका प्रकाशित हुई थी। उसी का प्रचार-प्रसार आबाल वृद्ध प्रत्येक व्यक्ति के लिये अत्यत उपयोगी है। उसी को परम शिष्य 'सिद्धान्त दिवाकर' उपाध्याय श्री १०८ ज्ञानसागर जी की प्रेरणा से आ. श्री शान्तिसागरजी (छाणी) ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। वह दिन-प्रतिदिन बढ़ती रहे, प्रत्येक प्राणी ज्ञान-ध्यान बढ़ाकर कल्याण करे ऐसा शुभाशीर्वाद।

—आचार्य श्री १०८ सुमतिसागर जी

अन्तरंग

आपके हाथ मे 'मुक्ति-पथ की ओर' नामक पुस्तक के तीन भाग हैं। इनमे प्रथम भाग के अन्दर शुभाशुभ कर्म, सप्त-व्यसन से हानि, अष्ट मूल गुणो से लाभ, भोजन दिन मे ही क्यो और कैसे तथा पञ्च परमेष्ठियो के मूल गुण आदि का विवेचन किया गया है।

द्वितीय भाग मे श्रावको के षट् आवश्यक कर्मों को अर्थात् देवपूजा क्यो और कैसे, गुरु-उपासना से लाभ, स्वाध्याय से सच्चे सुख की प्राप्ति, घर मे रहते हुए सयमी कैसे बने, तपो और ध्यान के द्वारा अपने स्वभाव की प्राप्ति कैसे करे, आदि बातो का संक्षेप मे विवेचन है।

तृतीय भाग के अन्दर चतुर्गति-दु ख विवेचन, इसका कारण कषाय, मिथ्यात्व और सम्यग्दर्शन का सक्षेप मे कथन किया है।

इस पुस्तक के दो भाग जयपुर मे लिखे थे और वहाँ से प्रकाशित भी हो चुके है। श्री गुलाबचन्द्र पटना वालो आदि के आग्रह से यहाँ पर तीसरा भाग लिखा गया है और पूर्वलिखित भागो मे भी कुछ उपयोगी दोहे आदि बढ़ा दिये है तथा कही-कही परिवर्तन भी कर दिया है। पिछले सभी सस्करण समाप्त होने के कारण आ श्री शान्तिसागर छाणी ग्रन्थमाला ने यह अष्टम सस्करण छपवाने का निर्णय किया। उसी का फलद् रूप प्रस्तुत सस्करण है।

सम्यग्दर्शन आदि का विवेचन सक्षेप मे ही करने का विचार था, परन्तु डॉ पन्नालालजी के कहे अनुसार कुछ विस्तृत कर दिया है।

इस पुस्तक के अन्दर मैने अपनी ओर से कुछ भी नही लिखा है और न कुछ लिखने की मुझ मे योग्यता ही है। इसमे अनेक आचार्यों द्वारा रचित एव वर्तमान विद्वानो द्वारा लिखित शान्ति-पथ आदि ग्रन्थो तथा जिनेन्द्र-वाणी का ही सकलन है। अल्पज्ञान होने के कारण इसमे त्रुटियाँ रहना स्वाभाविक ही है। अत विद्वज्जन इसे विद्वत्ता की दृष्टि से न देखकर भावो की दृष्टि से देखे। पुस्तक का सम्पादन श्री डॉ दरबारीलाल जी कोठिया वाराणसी द्वारा किया जा रहा है, अत पुस्तक का यह सस्करण मुक्ति-पथिको के लिए विशेष उपयोगी एव रुचिकर होगा, ऐसी मेरी शुभ कामना है, तथा जिन युवा और प्रौढ़ो की रुचि इस पुस्तक को जन-जन तक पहुँचाने की है व रहेगी, उन सभी के लिए भी मगल-कामनाएँ है।

– आ. क. सन्मतिसागर

प्रस्तुत कृति

प्रस्तुत रचना 'मुक्ति-पथ की ओर' है और इससे पूर्व इसके कई संस्करण निकल चुके हैं। यह इतनी लोकप्रिय और उपादेय हुई कि अब यह परम पूज्य आचार्य शान्तिसागर (छाणी) ग्रन्थमाला से भी प्रकाशित हो रही है। इसमे सन्देह नही कि पुस्तक आबाल-गोपाल सभी के लिए लाभप्रद है।

आज का जन-सामान्य श्रद्धालु अधिक है पर उसमे ज्ञान कम है। पर यह पुस्तक श्रद्धा के साथ ज्ञान को भी उत्पन्न करती है। वास्तव मे ज्ञान सहित श्रद्धा ही कार्यकारी एव सुफल है। प. दौलत राम जी के शब्दो में **'ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण, यह परमामृत जन्म-जरा-मृतरोग निवारण'** ज्ञान की महिमा अधिक है।

हमारा विचार है कि इस पुस्तक से जहाँ जन सामान्य की श्रद्धा में स्वच्छता और बल आवेगा वहाँ ज्ञान भी समुत्पन्न होगा। तथा जब ये दोनो व्यक्ति में आयेगे तो उसका सम्यक् आचरण भी होगा। अत. ऐसी पुस्तको का अधिकाधिक प्रकाशन निश्चय ही लाभदायक और आवश्यक है।

हम 'आचार्य शान्तिसागर (छाणी) ग्रन्थ-माला' बुढ़ाना (मुजफ्फरनगर), उत्तर प्रदेश के सस्थापको को हार्दिक धन्यवाद देते हैं, जिन्होने इस उपयोगी एव महत्त्वपूर्ण कृति का प्रकाशन करने का निर्णय लिया।

२२-११-१९९० —(डॉ०) **दरबारीलाल कोठिया**

बीना (सागर), म प्र. पूर्व रीडर, का हि वि,

वाराणसी

प्रकाशकीय

'मुक्ति-पथ की ओर' सामान्य भाषा में रचित, श्रमण परम्परा के मूलभूत सिद्धान्तों का विश्लेषण करने वाली एक ऐसी पुस्तक है जो उन पाठको को समर्पित है, जिन्हें संस्कारो की विरासत प्राप्त है और स्वाध्याय का अथ करना है। पूज्य सन्मतिसागर जी महाराज ने बिना कठिन तकनीकी शब्दों के उपयोग के अत्यन्त सरल भाषा में इस पुस्तक को स्वाध्याय की बुनियाद के रूप में प्रस्तुत किया है। यह पुस्तक पाठकों के बीच अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुई है, इसका प्रमाण इसी बात से मिलता है कि इसके कई संस्करण प्रकाशित हो चुके है। हमारा विश्वास है कि पूज्य सन्मतिसागर जी की वर्षों की ज्ञान साधना का नवनीत लोकमंगल का मार्ग प्रशस्त करेगा।

इस पुस्तक का प्रकाशन आचार्य शांतिसागर छाणी ग्रन्थमाला के अवधान में किया जा रहा है। आचार्य शांतिसागर छाणी जी दिगम्बर मुनि परम्परा के एक ऐसे प्रणम्य प्रकाश-स्तम्भ हैं, जिन्होने सम्पूर्ण उत्तर भारत मे उस समय आगम के मूल तत्वो का प्रचार-प्रसार किया, जब इस साधना-परम्परा के प्रति लोग उदासीन थे। परम पूज्य आचार्यश्री ने विभिन्न नगरो में परिभ्रमण किया और अपने उपदेशों की अलख जगा कर सद्‌विचारो के व्यापक प्रसार को आन्दोलन का रूप दिया। सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य का सुन्दर सुयोग स्थापित कर उन्होंने जागृति की एक नयी लहर पैदा की। आज भी उनकी शिष्य परम्परा पूरे दिगम्बर जैन समाज को ही नहीं, प्रत्युत् पूरे देश को दिशा निर्देश दे रही है। ऐसे पूज्य आचार्य की स्मृति को जीवन्त रखने के उद्देश्य से बुढ़ाना दि जैन समाज ने युवा मनीषी उपाध्याय १०८ श्री ज्ञानसागर जी महाराज की प्रेरणा से आचार्य शान्तिसागर छाणी स्मृति ग्रन्थमाला की स्थापना की। इसके माध्यम से जैन, साहित्य को जन-जन तक पहुँचाने का विनम्र प्रयास विभिन्न समाजो के सहयोग से किया जा रहा है।

बिहार की ऐतिहासिक धरती, जो वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे हिसा व क्रूरता का पर्याय बन चुकी है, वहाँ उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी के पावन चरणों ने स्नेह का ऐसा स्पर्श दिया है जिससे पूरा जनमानस आशा और विश्वास के नवसंचार से सिचित हो उठा है। पूज्य उपाध्यायश्री की ज्ञान गंगा विश्वधर्म का जयघोष करती हुई सम्पूर्ण प्रदेश मे सस्कारों के नवनिर्माण के गुरुकार्य को सफलतापूर्वक पूरा कर रही है। गया, रफीगंज, डाल्टनगंज, रामगढ़ होते हुए राँची में इस वर्ष वर्षायोग कर उपाध्यायश्री ने नवयुवकों को विशेष रूप से प्रभावित किया है। राँची में शाकाहार रैली, विश्व मैत्री रैली आदि कार्यक्रमों ने पूरे शहर को चेतना के नये अहसास से अनुप्राणित किया है। आचार्य शान्तिसागर छाणी महाराज के जीवन पर आधारित डॉ. कस्तूरचन्द जी कासलीवाल की पुस्तक के विमोचन के अवसर पर राँची जैन समाज के शलाका पुरुष राय बहादुर श्री हरक चंद जी पाण्ड्या

ने समाज की ओर से उदारतापूर्वक यह घोषणा की कि 'मुक्ति-पथ की ओर' पुस्तक के प्रकाशन मे वे अधिकाधिक सहयोग देगे। और इस उदार वक्तव्य के माध्यम से ही पुस्तक-प्रकाशन का कार्यारम्भ हो सका। इस गुरुकार्य मे तदनन्तर खतौली की श्रीमति रतन माला धर्मपत्नि स्व श्री सलेकचन्द्र जी जैन टायर वाले एव राँची के माननीय नथमल जी ने आर्थिक सहयोग प्रदान करने की कृपापूर्ण अनुकम्पा की। ग्रन्थमाला इन सभी का आभार मानती है।

'मुक्ति-पथ की ओर' सुधी पाठको को समर्पित है, इस आशा के साथ कि स्वाध्याय की नयी दिशा प्रशस्त होगी। ग्रन्थमाला की ओर से मै पुन सभी दातारो का विनम्रतापूर्वक साधुवाद करता हूँ एवं प्रार्थना करता हूँ कि आगामी प्रकाशनो के लिये मुक्त हृदय से सहयोग प्रदान करे।

— नलिन के. शास्त्री

बोध-गया

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

卐

तू परमें क्यों भरमाता है

निजके गुण निजमें हैं चेतन, तू परमें क्यों भरमाता है।
परसे दृष्टिमें फेर जरा,
मिल जाए गुणोंका सिंधु भरा।
निजमें खोजा इनको जिसने,
पाया है शिवपदको उसने।
शिवपद मिलता है निज गुणसे, रे क्यों इनको ठुकराता है।
निजके गुण ....

जो गुण स्वभाव है सिद्धोंमें,
वह ही तेरेमें छिपा हुआ।
हैं राग-रहित अनुपम वे तो,
तू राग-रंगमें रगा हुआ।
तज राग-द्वेष-क्रोधादि सभी, इनके कारण दुःख पाता है।
निजके गुण........ ...

कर्तापन से मुख मोड़ सदा,
मिथ्यात्व भाव को दूर भगा।
प्रगटाके दर्शन - ज्ञान - चरित्र
शुद्धातम को नित मान सगा।
ये है सच्चे सुखके कारण, तू क्यों इनको विसराता है।
निजके गुण..... ......

पुरुषार्थ किया निजमें जिसने,
केवल पदको पाया क्षणमें।
सब तोड़ जगत्के दन्द-फन्द,
"सनमति" निजको ध्यायो निजमें।
है ज्ञाता दृष्टा भाव अचल, परमें रम क्यों दुःख पाता है।
निजके गुण निजमें हैं चेतन, तू परमें क्यों भरमाता है।

मुक्ति-पथकी ओर

प्रथम भाग

मङ्गलाचरण

त्रैलोक्यं सकलं त्रिकालविषयं सालोकमालोकि तं,
साक्षाद् येन यथा स्वयं करतले रेखात्रयं साङ्गुलिः ।
रागद्वेषभयामयान्तकजरालोलत्वलोभादयो,
नाल यत्पदलङ्घनाय स महादेवो मया वन्द्यते ॥

श्री सन्मतिको नमन कर, लिखता हूँ कुछ सार ।
भव्य जीव इसको पढ़ें, भवदधि उतरें पार ॥१॥

शुभाशुभ—मुक्ति-पथकी ओर अग्रसर होने के इच्छुक

कुछ लोगोके हृदयमें इसका सशय बना है कि इस आत्माको अपनी करनी का फल मिलता है या नही ? पर देखा जाये तो आत्माको अपने किये हुए शुभ अथवा अशुभ कर्मोका फल अवश्य प्राप्त होता है। इस बातको सभी धर्मानुयायी और विचारक मानते हैं कि बुरी करनीका फल बुरा और भली करनीका फल भला मिलता है । उसके लिये हमारे समक्ष कई दृष्टान्त भी हैं ।

एक पुण्यशाली मनुष्य रथमे बैठा हुआ जा रहा है, उसके लिये अनेक प्रकारकी व्यवस्था की जा रही है, मखमली गद्दे बिछे हुए हैं, चंवर ढुलते जा रहे हैं, जगह-जगह अनेको प्रकारके स्वागत होते जा रहे हैं, लेकिन साथमे चलने वाले सेवकोको उनकी भूख–प्यासको भी कोई नही पूछता । इसलिये मानना होगा कि इन सबकी पूर्व जन्मकी करनीका ही फल है ।

हमारे पूर्व मे किये हुए शुभ कर्मोके फलस्वरूप अनेक सुविधायें प्राप्त हो जाती है, रहनेको बगला, घूमनेको गाड़ी, खानेके लिए अनेक प्रकारके खाद्य पदार्थ । लेकिन एक वह भी जीवन है, जिनके पास पूर्वमें किये हुए पापकर्मोके कारण रहनेके लिए झोपड़ी भी नहीं, चलनेके लिए पैर भी नहीं, खानेके लिए दर-दरकी ठोकरे खाते फिरते हैं । किसी के आंख नही है, किसीके कान नही है, किसीके हाथ नहीं है, किसीके कोढ़ आदि अनेक प्रकारकी

व्याधियाँ हो रही हैं। इससे स्पष्ट होता है कि हम जैसे कार्य करेंगे उनका वैसा ही फल हमको अवश्य मिलेगा।

कर्म फल देते हैं क्या ?

कुछ लोगोका कहना है कि आजकी दुनियाँमें देखा जाता है कि जो मनुष्य अत्याचार करता है, कालाबाजारी करता है, घूस खा रहा है, मायाचार करता है, व्यसनी है, पापी है, वही आज सुखी देखा जाता है। उसीके बड़े-बड़े बगले बने हुए हैं, वही आजकी दुनियाँमे सम्मान पाता है। और जो ईमानदारीसे न्यायपूर्वक धन कमाकर अपना किसी तरह गुजारा करता है, उसकी न तो कोई भाई-बन्धुओमे गिनती है— न समाजमे, न उसे कोई स्थान प्राप्त है, न उसके पास बड़ी बिल्डिग ही है, न कुछ सम्पत्ति ही है। इसलिये लोग कहते हैं कर्म कोई फल नही देते, अगर फल देते होते तो जो व्यक्ति भगवान्‌की भक्ति करता है, पाप नही करता, दान देता है, उसे सुखी रहना चाहिये और जो व्यसनी है, पापी है, अत्याचारी है, उसे दुखी रहना चाहिये।

पर ऐसा मानना ठीक नही है क्योकि यह कोई जरूरी नही है कि आजके किए हुए शुभाशुभ कर्म आज ही फल दे। आज भी दे सकते हैं, कुछ समय पश्चात् भी और दूसरे जन्मोमे भी उदय आ सकते हैं तथा कई जन्मोके बाद भी कर्म अपना फल दे सकते हैं, क्योकि जब जिस कर्मका उदय होगा तभी उसका फल मिलेगा। जो लोग आज पाप करते हुए भी सुखी देखे जाते हैं तो कहना होगा कि अभी उनके पूर्वमे किये हुए पुण्य कर्मोंका फल प्राप्त हो रहा है। अभी जो कुछ कर रहे हैं उसका फल तो भविष्यमे प्राप्त होगा। पापीके लिए किसीने कहा है—

जब तक तेरे पुण्यका, बीता नहीं करार।
तब तक तुझको माफ है, औगुण करो हजार॥

संसार मे देखा जाता है कि अधिक जीव सुखी नही हैं। इसका मूल कारण है कि पूर्वमे किये हुए जिस कर्मका उदय आता है तदनुसार फल मिलता है। जीवनमें सुख पानेके लिए कई साधनोकी आवश्यकता होती है। परन्तु ससारमे एक ही व्यक्तिको ये सभी साधन एक साथ मिलना असभव है।

एक व्यक्ति स्वस्थ है, परन्तु उसके पास धनका अभाव है, दूसरा व्यक्ति धनी है परन्तु वह सदा रोगी रहता है। किसीके पास धन भी है, स्वास्थ्य भी है, परन्तु सन्तान न होनेके कारण दुखी है, यदि सन्तान भी है तो वह रोगी या दुश्चरित्र है। किसीके पास धन भी है, सन्तान भी है, परन्तु उसकी पत्नी दुष्टस्वभाव वाली या फूहड़े कुटिल है; जिसके कारण घरमे सदैव क्लेश रहता है। इसी प्रकार हम देखते हैं कि संसारमें प्रायः सभी

जीव दुखी हैं, कोई किसी कारणसे, तो कोई किसी कारणसे। इन सुखों व दुखोंका मूल कारण हमारे द्वारा किए हुए अच्छे व बुरे कर्म ही हैं। वे कर्म हमारे इस जन्मके किये हुए भी हो सकते हैं और पिछले जन्मोके किये हुए भी।

हमने अपने पूर्व जन्मोमे औषधि दान दिया होगा, अथवा दूसरे जीवोंके रोग-शोक दूर करनेके लिए कुछ कार्य किया होगा, तो उस अच्छे कार्यके फलस्वरूप हमको स्वस्थ शरीर प्राप्त होगा। इसके विपरीत हमने दूसरे जीवोको शारीरिक कष्ट दिया होगा तो उस बुरे कार्यके फलस्वरूप हम रोगी रहेंगे।

यदि पिछले जन्मोमे हमने मुनि-श्रावको को ज्ञानदान दिया होगा, विद्या- के प्रति रुचि रखी होगी और अन्य दूसरे व्यक्तियोको विद्या प्राप्त करनेमें सहायता की होगी तो उस अच्छे कार्यके फलस्वरूप हम विद्वान् व ज्ञानी बनेगे। अगर इसके विपरीत पिछले जन्मोमे हमने किसी को ज्ञानदान देनेमें, शिक्षा प्राप्त करनेमे बाधा डाली होगी तो उस बुरे कार्यके कारण (फल-स्वरूप) हम निपट अज्ञानी, अनपढ व मूर्ख रहेंगे।

पिछले जन्मोमे हमने यदि दिगम्बर मुनियोको; उत्तम, मध्यम, जघन्य, श्रावकोको अहारदान दिया होगा और दीन, दुखी, भूखे, गरीबोकी सहायता की होगी अर्थात् करुणादान दिया होगा तो हमको आदरके साथ आहार मिलता रहेगा। यदि इसके विपरीत पिछले जन्मोमे हमने किसी मुनिश्रावकोके आहारमे अन्तराय कराये होगे तो हमको भरपेट भोजन नहीं मिलेगा—अतराय आते रहेंगे।

यदि पिछले जन्मोमे हमने दया-भावके साथ किसीकी भलाई की होगी और दूसरोको सुख पहुँचानेका प्रयत्न किया होगा, मुनियोकी प्रशंसा की होगी, तो उन अच्छे कार्योंके फलस्वरूप जगमे हमारी प्रशंसा होगी और अनूकूल मित्र व सम्बन्धी मिलेगे। तथा अपने कार्योंमे सफलता मिलती रहेगी। इसके विपरीत यदि हमने पिछले जन्मोमे दूसरोको कष्ट पहुँचाया होगा और मुनियोकी निन्दा की होगी, किसीके साथ विश्वासघात किया होगा, किसीकी सफलताओमे बाधा डाली होगी, तो उन बुरे कार्योंके फलस्वरूप हमको प्रतिकूल परिस्थितियाँ मिलती रहेंगी, हमारे मित्र व सम्बन्धी हमसे विश्वासघात करेंगे तथा हमे असफलताओका मुख देखना पडेगा, लोक-निन्दा अर्थात् अपयश भी फैलेगा।

हमारे मन में समय-समय पर अनेक प्रकारकी शुभ व अशुभ भावनाएँ उठती रहती हैं और हम समय-समय पर शुभ व अशुभ कार्य करते रहते हैं। इन्ही भावना व कार्योंके अनुसार हम शुभ व अशुभ कर्मोंका संचय

करते रहते हैं, जिनका फल एकसाथ ही मिलता रहता है। जैसे किसी पुण्यकर्म के फलानुसार हमको धन मिला है। परन्तु उसी समय किसी पाप-कर्मके फलस्वरूप हम रोगी हो जाते हैं। किसी शुभ कर्मके फलस्वरूप हमको अनुकूल मित्र व सेवक मिलते हैं, परन्तु उसी समय किसी अशुभ कर्मके फलस्वरूप हमारी सन्तान चरित्रहीन निकल जाती है। इस प्रकार हम एक ही समयमे किसी अपेक्षासे दुःखी भी होते हैं और किसी अपेक्षा से सुखी भी। यही कारण है कि ससारमे ऐसा व्यक्ति मिलना असम्भव है जो सब प्रकारसे सुखी हो या दुःखी। इससे स्पष्ट हो गया कि इस जीवको अपने द्वारा किए शुभ या अशुभ कर्मोंका फल स्वतः ही भोगना होता है, चाहे वह कितना ही महान् क्यो न हो।

पिछले भवोमे किये हुए कर्मोंके फलस्वरूप अजना सतीको पति-वियोग बाईस वर्ष तक सहना पड़ा और घोर विपिनमे जा अनेक दुःखोका सामना करना पड़ा। सीताजी का अपवाद हुआ, फलतः वन जाना पड़ा। यह पूर्व किये हुए कर्मोंका ही तो फल था। श्रीपालके सुन्दर शरीरमें कुष्ठ व्याधि हुई, यह भी उनके कर्मोंका ही फल था।

जब अशुभ कर्मोंका उदय होता है तो वे अच्छे-अच्छोकी बुद्धि भ्रष्ट कर देते हैं। देखिये, अशुभ कर्मोंकी ताकत कि बड़े-बड़े मोक्षगामी जीव जैसे तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि को भी पिछले किए कर्मोंका फल भोगना पड़ा। तो हम और आप जैसोकी क्या ताकत ? अतः हमको निश्चित रूपसे यह मानना होगा कि अवश्य ही करनीका फल जैसा-का-तैसा प्राप्त होता है।

अब पछताये होत क्या ?

अतः अभीसे ही हमको सावधान हो जाना चाहिये अशुभ कर्मोंको न आने देनेके लिये, क्योंकि इन्द्रियाँ, पूर्ण ज्ञानका क्षयोपशम, उच्चकुल और पिछले कर्मोंके फलस्वरूप शरीर भी निरोग प्राप्त हुआ है। सभी साधन अनुकूल हैं। क्षेत्र ऐसा पाया है कि जिसमे समवसरण जैसे मन्दिर, जिनेन्द्र भगवान्‌की वाणीसे पूरित शास्त्र-भण्डार, स्वाध्याय करानेके लिए बुद्धिमान् अनेकान्तवादी पण्डित, धर्मोपदेश सुनाने के लिए दिगम्बर मुनि, आर्यिकाएँ आदि तथा साधर्मीजनोका समागम, यह सब सुविधा मिलने पर भी हम स्वरूप को नहीं जाने, अशुभमे बचनेके लिए सम्यग्दर्शनपूर्वक अपने षट्कर्मोंका पालन न करें, अष्ट मूलगुणोको न अपनाये, सप्त व्यसनोका त्याग न करें, पाप-कर्मोंसे मुक्त न हों, द्वादश व्रतोको आचरणमे न लावें, सप्त-तत्त्वका श्रद्धान न करें, पच्चीस दोषोको न त्यागें, देव-शास्त्र-गुरुका श्रद्धान न करें, जिनेन्द्र भगवानके दर्शन न करे, बाईस अभक्ष्योका त्याग न करें, इक्कीस गुणोंको न

अपनायें, तिरेपन क्रियाओ को आचरण मे न लाये, चार कषायो का त्याग न करें, छः लेश्याओ को न जाने, सम्यग्दर्शन प्राप्त न करें, द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन न करे, पञ्च परमेष्ठियो का ध्यान न करें, चारों आराधनाओं का मनन न करे, और शुभ तथा अशुभ राग को त्याग-स्वभाव में लाकर अगर कर्ममल को न हटाया, तो यह नरजन्म पाना निरर्थक हो जायगा। इसके बाद ठीक उसी तरह पछताना होगा जिस तरह अज्ञानवश चिन्तामणि रत्न को फेककर मालूम पडने पर कोई पुरुष।

दृष्टान्त

एक मनुष्य वनमे प्रवेश करता है लकडी लाने के लिए। लकड़ी एकत्र कर थकावट दूर करने हेतु वह एक वृक्ष की शीतल छायामे जा बैठा। वहाँ उसे एक चिन्तामणि रत्न हाथ आया। उसने विचार किया कि यह पत्थर बहुत सुन्दर है, इसे घर ले चलेगे। वृक्षके नीचे बैठे हुए उस लकड़हारेके मन में आया कि आज तो यही कोई ठण्डा जल पिला दे, बस देर ही क्या थी, विचार आते ही निर्मल जल आ गया। उसे पीकर बडी प्रसन्नता हुई और विचारने लगा कि आज तो कई प्रकारके सुन्दर भोजन भी मुझे यहीं प्राप्त हो जाएँ। विचार करते ही कई देवाङ्गनाएँ, अनेक प्रकार के मिष्ट तथा नमकीनादि खाद्य पदार्थों के द्वारा सजाए गये थाल लेकर उसके समीप आ कहने लगी कि भोजन कीजिए। ऐसा सुनते ही आनंदित हो उठा उसका मन और वह जीमने लगा। देवाङ्गनाएँ हवा करती जाती है, उसी बीच आता है एक काग वहाँ, और बोलना शुरू कर देता है अपनी कटु वाणीमे। भोजन करते हुए उस पुरुषने उस कागलेको उड़ाने के लिए उसी छोटे से पत्थरको फेक दिया। कागने समझा कुछ खाद्य पदार्थ होगा, ऐसा जान उसे ले उडा।

उसी समय देवाङ्गनाये आदि सभी माया लोप हो गई और वह मूर्ख अकेला ही वहाँ बैठा रह गया। मालूम होने पर कि यह सब पत्थरकी करामात थी, तो उसे अपनी मूर्खता पर पछताना पडा।

हम लोग भी इस चिन्तामणि रत्नके समान मानव-शरीरको विषय-भोगोमे नष्ट कर देंगे, गवाँ देंगे, सुखा देंगे, तो हमे दुर्गतिमे जाके पछताना होगा इस नरजन्मके लिए। जिस प्रकार समुद्रसे अत्यन्त कठिनतासे प्राप्त किया मोती हाथसे छूट जानेके बाद फिरसे हाथ आना दुर्लभ है ठीक उसी प्रकार यह नरतन छूटनेके बाद इसका पाना भी अत्यन्त दुर्लभ है।

शुभाशुभ कर्म

हमें अभीसे अपने कर्त्तव्यका पालन शुरू कर देना चाहिए, ताकि

नवीन अशुभ कर्म आकर अपना प्रभुत्व न जमा लें, हमको अपने काबूमें न कर लें। पिछले जन्मोके सस्कार व कर्मोंके फलस्वरूप ही हमको यहाँ सुख-दुख प्राप्त हुए हैं। जब अशुभ कर्मोंका उदय होता है तब इष्टकी प्राप्ति होनेपर भी हित नही होता। इसे स्पष्ट करनेके लिए उदाहरण है कि—

किसी सुखके अर्थी मनुष्यको भ्रमते-भ्रमते एक कल्पवृक्ष मिल गया। उसने कल्पवृक्षको पाकर भी उससे हलाहल जहरकी ही याचना की— अशुभका उदय होनेके कारण, जिससे कि मनवाञ्छित फलकी प्राप्ति हो सकती थी। इसी तरह से हम नर-तन रूपी कल्पवृक्षसे विषय-वासनाओके वशीभूत हो नरकादि खोटी गतियो रूपी जहरकी याचना करते है। जिस प्रकार कल्पवृक्षसे मनोवाञ्छित फलकी प्राप्ति होती है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य-जन्मसे स्वर्ग मोक्षादि फलोकी प्राप्ति होती है, अगर कर्मोंको न आन दें तो।

कर्म बन्ध कैसे और क्यों ?

अब प्रश्न उठता है कि कर्म क्या है और वे किस प्रकार हमारी आत्माकी ओर आकर्षित होते है ?

हमारे विकारी राग-द्वेषनिमित्तक शुभाशुभ विचारो व भावनाओके अनुसार कर्म हमारी आत्माकी ओर आकर्षित होते है और उसके ऊपर उनका आवरण बन, वे छा जाते है। जिस प्रकार चिकनाहटके ऊपर रज (धूल) जम जाती है, उसी प्रकार राग-द्वेषमय आत्मासे कर्मरूपी धूल आकर चिपक जाती है। वे कर्म समय आनेपर फल देकर हमारी आत्मासे पृथक हो जाते हैं। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसे भौतिक पदार्थोके उदाहरणसे समझाया नही जा सकता। फिर भी यहाँ लौकिक उदाहरणो के द्वारा इसे स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया जा रहा है।

वैज्ञानिक किसी भी द्रव्य के छोटेसे-छोटे टुकड़ेको स्कन्ध(Molecule) कहते हैं। इस स्कन्धमे मूल द्रव्यके समस्त गुण होते है। यदि हम इस स्कन्धके भी टुकडे कर दे तो उसमे मूल द्रव्यके गुण नही रहते। ये स्कन्ध कितने छोटे होते हैं, इसकी कल्पना निम्नलिखित उदाहरणसे की जा सकती है।

जर्मन प्रोफेसर एण्ड्रेड (Andrade)ने अपनी एक पुस्तक मे लिखा है कि आधी छटाक जलमे जलके स्कन्धोकी सख्या इतनी अधिक होती है कि यदि तीन अरब व्यक्ति एक सेकिन्ड में पाँचकी गतिसे बिना रुके दिन-रात उनको गिनते रहें तो उनको गिननेमें चालीस लाख वर्ष लगेगे।

फिर यह जलका स्कन्ध भी ससारका सबसे छोटा पदार्थ नही होता। जलके एक स्कन्धको तोडा जाय तो उसमे दो हाइड्रोजन और एक ऑक्सीजनके परमाणु मिलेंगे। इसी प्रकार अन्य द्रव्योके स्कन्धोमे भी परमाणुओकी

भिन्न-संख्या पाई जाती है। यहाँ तक कि किसी द्रव्यके स्कन्धमें परमाणुओंकी संख्या सौ से भी अधिक होती है। वैज्ञानिकोने इन परमाणुओंके भी टुकड़े किये हैं और बताया है कि यह परमाणु भी प्रोटोन (Proton) और इलैक्ट्रोन (Electron) नामक तत्त्वोसे बने हैं। एक परमाणुमे कई-कई प्रोटोन और इलैक्ट्रोन होते हैं। प्रोटोन बीचमे स्थित रहते हैं और इलैक्ट्रोन उन प्रोटोनके चारो ओर बहुत ही तीव्र गतिसे चक्कर काटते रहते हैं। इन चक्कर काटते हुए इलैक्ट्रोनोके बीचमे भी पर्याप्त दूरी होती है। तात्पर्य यह है कि एक परमाणु भी खोखला होता है। इसी मान्यताके आधारपर आजकल एटम बम और हाइड्रोजन बम (Atom bomb, Hydrogen bomb) बन रहे है। और इसी मान्यताके आधार पर वैज्ञानिक कोयलेको हीरेमें तथा पारेको सोनेमे बदलने मे सफल हुए हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि संसारका छोटेसे छोटा पदार्थ जो वैज्ञानिको ने खोज निकाला है वह इलैक्ट्रोन और प्रोटोन है। वैज्ञानिक कहते हैं कि बिजलीके तारोंमे जो विद्युतधारा (Electric Current) का प्रवाह होता है वह वास्तव में अरबों की सख्या मे इलैक्ट्रोनोका बहुत ही तीव्र गतिसे चलना ही है।

ऊपर जो गणित बतलाया है वह केवल इलैक्ट्रोन और प्रोटोनका परिणाम दिखलानेके लिए ही बतलाया है। ये इतने सूक्ष्म होते हैं कि इनकी केवल कल्पना ही की जा सकती है।

कार्माण नामक पुद्गल (Matter) इन इलैक्ट्रोन और प्रोटोनसे भी बहुत छोटा होता है और यह पुद्गल सारे ससारमे भरा हुआ है। जब भी हमारे मनमे अच्छे व बुरे विचार आते हैं तभी यह कार्माण नामक पुद्गल हमारी ओर खिचता है और हमारी आत्मापर इसका आवरण छा जाता है। इन कार्माण नामक पुद्गलोके हमारी ओर खिचनेकी क्रियाको समझानेके लिए एक उदाहरण दिया जाता है—

आज ससारमे सैकड़ो रेडियो स्टेशन हैं और उनसे निकली हुई रेडियो तरगे सारे ससारमे फैलती रहती है। जब कोई व्यक्ति अपना रेडियो खोलता है तो वह किसी विशेष रेडियो स्टेशनका कार्यक्रम सुननेके लिए अपने रेडियोके यंत्र घुमाता है। इस प्रकार यंत्रोको घुमानेसे जिस रेडियो स्टेशनका कार्यक्रम वह व्यक्ति सुनना चाहता है, उसी रेडियो स्टेशनकी तरंगे उसके रेडियोमे आती है, शेष तरंगे नही आती। इसी प्रकारसे हमारे कुछ विचारो और भावनाओ के अनुसार विशेष कार्माण परमाणु प्रत्येक क्षण हमारी आत्माकी ओर आकृष्ट होते रहते हैं, और हमारी आत्माके ऊपर एक प्रकारका कार्माण परमाणुओका आवरण चढता रहता है। इनके आवरणमे प्रति समय कुछ कार्माण परमाणु अपना फल देकर झड़ते रहते हैं, और प्रति

समय हमारी भावनाओके अनुसार ही नये–नये कार्मण परमाणु आते रहते हैं। इस प्रकार यह कर्मोका आवरण अनादिकालसे प्रत्येक प्राणीकी आत्माके साथ लग रहा है, भविष्यमे तबतक लगा रहेगा, जबतक वह प्राणी अपने पुरुषार्थके द्वारा इन कर्मों (चार घातिया और चार अघातिया) को अपनी आत्मा से अलग नही कर देगा। उनके नाम इस प्रकार हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इन कर्मोसे हम मुक्त होना चाहते हैं तो मनुष्य जन्मका मूल्याकन करना होगा।

नर-जन्म और कर्तव्य

इस अमोलक नरजन्मकी अगर हम सार्थकता करना चाहते हैं तो हमे अपने कर्त्तव्योका पालन करना होगा। सर्वप्रथम कर्त्तव्य हमारा यह है कि जो हम कोरी बातोके ही पुल बांधते रहते हैं, यह करूँगा, ऐसा कर दूँगा, साधु बनूँगा, कर्मोको तपसे भस्म कर दूँगा। इन सब कोरी बातोको छोड़कर क्रियारूपमें आचरणरूपमें लाएँ। बहुत कहनेके बजाय अगर थोड़ासा भी कार्यरूपमे ले लिया तो वह महान् होगा, ऐसा ही "हावेल" ने कहा है—

An, acre of performance is worth of a whole world of promise

कार्योंका एक एकड वचनोके एक पूरे संसारके समान है अर्थात् बहुत कुछ कहनेके बजाय थोडा–सा करना अच्छा है, महान् है क्योकि मात्र वचन बोलनेसे तो हमे सुखकी प्राप्ति होनेसे रही, उसके लिए तो कुछ जीवनमे उतारना होगा, आत्मशान्तिके लिए, ज्ञान, ध्यान, तप आदि सभी धर्माचरणोको क्रिया रूपमे लाना होगा।

यह मनुष्य–जन्म हमको प्राप्त हुआ है और अनुकूल सुविधाएँ मिली हैं। यह सब तो हमारे पिछले भवके किये हुए पुण्यका ही फल है। अगर हमने अपने कर्त्तव्यका पालन न किया तो हमारी गणना मनुष्योमे न होकर पशुओमें की जायेगी। भर्तृहरिने नीतिशतकमे भी यही कहा है—

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

जिन (पुरुषो) मे विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील (सदाचार) गुण तथा धर्म नहीं हैं वे पृथ्वीके भारस्वरूप पशु ही हैं, जो मनुष्य के रूपमे विचरण करते हैं।

इसलिये हमे चाहिये कि इसी क्षण अपनेको मोड ले–निजकी ओर परसे। जब हम पर-वस्तुको पर मान लेंगे और उससे मोड लेंगे अपने मनको, तो हमारा जो निजी स्वभाव रत्नत्रय है वह अपने आप प्रकट हो जाएगा। ज्यों–ज्यों हम अपने मनको आत्माकी ओर ढालेंगे त्यो–त्यो ही

संसार-शरीर-भोगोसे अरुचि होती जायेगी। इसलिये भगवान् महावीरने जो गृहस्थधर्मकी क्रिया व आचरण बताया है, उसे अपने जीवनमें उतारें। जब तक हम श्रावकधर्मका आचरण नही करेंगे, तब तक सच्चे जैनी नहीं बनेंगे। सच्चा जैनी तो वही हो सकता है जो जिनेन्द्र भगवान् ने जो उपदेश दिया है उसका पालन करता है। मन, वचन, कायसे उसका आचरण मनुष्य ही कर सकता है, इसलिये सब भवोमें मनुष्य-भव ही सार है।

इसी बातको आचार्य अमितगति कहते हैं कि **"भवेषु मनुष्यभवः प्रधानः"** ससारमे चतुरशीतिलक्ष योनियाँ हैं, उनमे एक मनुष्य-जन्मही प्रधान है, सर्वोपरि है। मनुष्ययोनिसे बढ़कर अन्य कोई दूसरी योनि (पर्याय) नही है। क्योकि मनुष्यको बुद्धिका अपार भण्डार, ज्ञानका अक्षय विकास, विवेककी अपूर्व निधि और बल-वैभव-सम्पन्नताका अपार समूहादि एक ही शरीरमें प्राप्त हो जाता है। इस परिवर्तनशील ससारमे मनुष्यसे बढकर अन्य दूसरा कोई नही—चाहे भौतिक उपादानोको देखा जाये अथवा आध्यात्मिक क्षेत्रकी ओर। अन्य प्राणी जन्मसे अन्त तक उसी अवस्थामे रहते है जो पूर्वसे चली आई है। उनके यथाजात शरीर, तिनकोके कुलाय, मिट्टीके वाल्मीक, गिरि-गुहाओके आश्रय आज भी उसी रूप मे हैं। किन्तु कल्पवृक्षोके द्वारा प्राप्त अपूर्व सुखोको भोगने वाला मनुष्य आज अणुसभ्यताके युगमे श्वास ले रहा है। वह पवनवेगसे आकाशमे सर्राटेके साथ उड़ता है, पानीमे शार्ककी तरह डुबकी लगाता है और इस पृथ्वी पर कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञानकी अन्तर-बाह्य विभूतियोसे सम्पन्न वातावरणमे सब सुख-सुविधाओके साथ जीवन यापन करता है। दिन-प्रतिदिन उन्नतिकी ओर अग्रसर होता हुआ यह मानव अपने सम्पूर्ण विकसित चैतन्यसे सभी प्राणियोसे अपनेको श्रेष्ठ सिद्ध कर रहा है। इसीने शरीरसे भिन्न आत्माको पहचाना है और स्व-परविवेकसे नरसे नारायण पदको प्राप्त किया है, तथा कर रहा है, एव करता रहेगा।

केवल मनुष्य-जन्म प्राप्त करने से और केवल भौतिक समृद्धिसे मनुष्य-पर्यायको सार्थक नही कहा जा सकता। उसे सार्थक और कृतार्थ करनेके लिए अपना कर्त्तव्य पालन करने की अत्यन्त आवश्यकता है, धर्माचरणकी व तप-तपनेकी आवश्यकता है। जिस प्रकार स्वर्ण अग्नि-तप्त होकर पवित्रताको प्राप्त होता है, मेहदीके पत्ते पीसे जानेपर ही रंग लाते हैं, चन्दन घिसनेपर ही सुगन्धि देता है, धान्य कूटने पर ही उपभोग्य होना है, उसी प्रकार यह मनुष्य जन्म भी ज्ञानाग्निमें तपकर अपने स्वभावको प्राप्त होता है। अत. हम अपने आवश्यक कर्त्तव्योका पालन करें, तो है नरजन्म प्राप्त

करनेकी सार्थकता। नही तो नीतिकारोने कहा है— **आहार-निद्रा भय-मैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।** पशुओमें तथा मनुष्योंमें खाना, पीना, सोना, उठना, रति-विलास ये सब तो समान ही हैं। अन्तर पाया जाता है तो केवल यही कि मनुष्य अपने ज्ञानके द्वारा सही मार्ग खोज सच्चे सुखकी ओर चल देता है और पशु अक्सर हित-अहित के ज्ञानसे रहित होता है, विवेकशून्य होता है। यदि मनुष्य इन सामान्यगुणोंसे आगे विशिष्टता प्राप्त नही करता है, तो उसे वास्तविक अर्थमें मनुष्य नही कहा जा सकता, मनुष्य तो मनुष्यत्वसे ही कहा जा सकता है। मनुष्य-जन्मकी विशेषता बताते हुए कार्तिकेयानुप्रेक्षामे कहा है कि—

मणुवगईए वि तओ मणुवगईए महव्वदं सयलं।
मणुवगईए झाणं मणुवगईए वि णिव्वाणं॥

मनुष्यगतिमे ही तप होता है, मनुष्यगतिमे ही समस्त महाव्रत होते हैं, मनुष्यगतिमे ही ध्यान होता है और मोक्षकी प्राप्ति भी मनुष्यगतिमे ही होती है। "न मानुषात् श्रेष्ठतर हि किञ्चित्" मनुष्यसे श्रेष्ठ कोई नही है। इस मनुष्ययोनिमे ही आत्माका विवेक होता है, और स्व-परका ज्ञान मिलता है तथा इसीमें छह आवश्यकोका पालन होता है, इसीमे श्रावक व मुनि धर्मका पालन होता है।

बार बार नहिं मिलनकी, यह मानुषकी देह।
सनमति परमे क्यों रमें, मुक्तीसे कर नेह॥

अपनी भूल

यह सर्वांगपूर्ण, मनोहर, ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न नरजन्म बाह्य एवं अन्तर-चिन्तनधाराओके भेदसे दो भागोमे विभक्त है। एक भाग इसका भौतिक है और दूसरा आध्यात्मिक। भौतिक पदार्थोंके प्रति आसक्तिकी अधिकतासे तथा आत्मिक जगत्के इन्द्रियसन्निकर्ष-बाह्य अर्थात् सूक्ष्म होनेसे कभी-कभी इस दृश्यमान स्थूल-जगत्को साध्य मानकर मनुष्य इसीमे डूब जाता है और—

बालपनेमें ज्ञान न लह्यो, तरुणसमय तरुणी-रत रह्यो।
अर्द्धमृतक सम बूढ़ापनो; कैसे रूप लखे आपनो॥

प० दौलतरामके इस सुभाषितके अनुसार क्रीड़ा-भोग और रोगमें फँसकर आत्म-ज्ञान-शून्य दशामे ही प्राण परित्याग कर परलोकगमन कर जाता है और वह रत्नत्रय, जिसे जानना ही मनुष्य-जन्मकी सार्थकता है उससे अविज्ञात रह जाता है।

मनुष्य जब अपने स्वभावको भूल विषयोके पीछे इस श्रेष्ठ भवको

लगाता है तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे मूर्ख कोदोंकी खेती कर उसके चारों ओर कपूरकी बाड़ लगाता हो, लाख तपानेके लिए चन्दनकी लकड़ी जला रहा हो, अथवा पकको उजलानेके लिए केसरका मिश्रण कर रहा हो। क्योंकि वास्तवमे जिस शरीरको हम सर्वस्व मानकर भौतिक उपादानोंका अम्बार लगाकर इसकी सुन्दरता, कोमलता और चारुताको अक्षुण्ण सुरक्षित रखना चाहते हैं, वही शरीर जर्जर हो बुढ़ापा आनेतक शिथिल हो जाता है। इसमें विकार आ जाते हैं जिससे आँख, नाक, कान, मुह, दाँत और सभी इन्द्रियाँ निर्बल और निष्क्रिय हो जाती हैं। मनकी आज्ञाको तन अस्वीकार कर देता है। अपने ही घरमे तन और मनमे द्वन्द्व खड़ा हो जाता है। मनको वे युवावस्थाके दिन स्मरण हो उठते हैं, जब वह इशारा करता और तन दौड पड़ता था। आज मन अंकुश मारता है और तन मुर्दाके समान निष्क्रिय होकर उसकी बात नही सुनता। यह मन तृष्णा का मित्र है, वासनाका सहचर है, कुपथका सखा है और मिथ्यात्वका किंकर है। यही मनुष्यको मृग-तृष्णाके कान्तार मे भटकाता है, रूपकी छलनामे भरमाता है, मायाके महलोमे अटकाता है। नीतिकार कहते हैं—

जीर्यन्ति जीर्यतः केशाः दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
जीर्यतोन्द्रिय – संघातस्तृष्णैका तरुणायते ॥

अर्थात् जब शरीर वृद्ध हो जाता है तो सिरके केश सफेद हो जाते हैं, दाँत गिर जाते हैं, जिससे मुँह पोपला होकर विद्रूप हो जाता है, कुछ खा-पी नही सकता, क्योंकि सारी इन्द्रियाँ जीर्ण हो जाती हैं- किन्तु तृष्णा तरुण बनी रहती है। इस तृष्णा का क्षय नही होता। दिनो-दिन बढती जाती है, मानव बिलकुल नही विचारता कि एक दिन मरना भी है। कहा भी है—

करिष्यामि करिष्यामि करिष्यामीति चिन्तया।
मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामीति विस्मृतम् ॥

किसी नीतिकारने कहा है कि 'करूँगा-करूँगा' इस प्रकार ऊहापोह करते-करते दीर्घसूत्री मनुष्य भूल जाता है कि कभी मरना भी पड़ेगा। अतः निकला हुआ श्वास फिर लौटे या नही लौटे, यह मानकर अपनेको निश्चयबुद्धि से कार्य-सलग्न करने वालाही जीवन-संग्राम मे विजयी होता है। क्योंकि—

न कश्चित् कस्य जानाति किं कस्य श्वो भविष्यति।
अतः श्वः करणीयानि कुर्यादद्यैव बुद्धिमान् ॥

नीतिकार कहते हैं कि जिस कार्यको तुम कल करना चाहते हो उसे आज ही कर लो, क्योंकि बीच समुद्रमें चलती हुई नौकाका भरोसा नहीं

और न जाने इस श्वास का आवन होय या न होय। अतः हितोपदेशमें कहा है—

> अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
> गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥

जब किसीको पढ़ना हो या धन कमाना हो तो 'मैं अजर अमर हूँ' इस भावनासे कार्यमे प्रवृत्त हो, किन्तु जब धर्मका आचरण करना हो तो सोचे कि मृत्यु मेरे केशोको पकडकर खड़ी हुई है। अर्थात् "शुभस्य शीघ्रम्"–धर्मके विचार उठे तो तुरन्त उन्हे कार्यान्वित करे।

दुःखों का सामना

अनादिकालसे संसारमें आकार हमने सब कुछ किया, परन्तु अपने कर्त-व्यका पालन "धर्माचरण" नही किया। इसलिये अभी तक चारो गति, चौरासी लाख योनिमें अनेको प्रकार के दुःख उपार्जन करते रहे हैं।

जब हमको निगोदमे रहना पडा तो वहाँ एक श्वासके अन्दर अष्टदश तक जन्म-मरण करने पडे। किसी समय अगर निगोदसे निकलना हुआ तो एके-न्दियके शरीरमे घोर दुःख सहने पडे। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और सैनी-असैनी पचेन्द्रियोके शरीरमे रहकर कई हजारो वर्ष व्यतीत किए। अनन्त दुःख उठाने पडे। नरकोंकी भूख-प्यास, सरदी-गरमी मारन-ताडनका कौन वर्णन करनेमे समर्थ है? अर्थात् कोई नही। कभी देवगति किसी पुण्योदयसे मिली तो वहाँ भी दुःखित जीवन ही व्यतीत किया।

किसी शुभ कर्मके फलसे कभी मनुष्यगतिकी प्राप्ति की तो शरीर रोगी, अंगहीन, धनहीन, कुटुम्बहीन आदि अवस्था प्राप्त की, उसमे भी सुखका लेश न देखा। अब यह मनुष्यजन्म न जाने कितने विशाल पुण्योदयसे प्राप्त हुआ है। अगर इसे पाकर नही किया चलना शुरु मुक्ति-पथ की ओर, तो वही घोर दुःखो का सामना फिरसे करना होगा, तीन कोटि पूर्व अधिक दो हजार सागर के बाद वही जाना होगा जहाँ पर श्वासके अठारहवे भागमे जन्म-मरण होता है। इन दुःखोसे अगर अपना बचाव करना चाहते हैं, तो मोड ले परकी ओर से अपनेको, अपनी ओर, शुरु कर दे चलना—मुक्ति-पथकी ओर। इस नरजन्मको पाकर भी अपने कर्त्तव्य का पालन नही किया तो यह नरभव पाया न पाया समान ही है। अतः जैसे बने तैसे हमे सम्यग्दर्शन अवश्य ही प्राप्त करना है और यथायोग्य अपने दैनिक आवश्यक कार्योंको भी करना है। सम्यक्दर्शनका स्वरूप आगे बताया जायेगा।

> दुःखसे जो बचना चहै, ज्ञान-चक्षु ले खोल।
> करनी सम्यक् साथ कर, मन अंदरसे बोल॥३॥

अष्ट मूलगुण

इस अमूल्य नर-जन्मको सार्थक बनाने पर ही संसारमें हम मानव कहे जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। इसलिये जल्दीसे जल्दी हमे अपने कर्त्तव्योंका पालन शुरू कर देना चाहिये। सर्वप्रथम हमको जो हमारे अष्ट मूलगुण हैं उन्हें अपनाना है। उनकी सख्या आचार्योंने इस प्रकार लिखी है—

मद्यमांस-मधुत्यागैः सहाणुव्रत-पंचकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुः गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥६६॥

अर्थात्—मद्य (शराब), मास और मधु (शहद) इन तीनोका त्याग और स्थूलरूपसे पाँच अणुव्रतोके पालनेका अभ्यास करे।

श्री जिनसेनाचार्यजीने अष्ट मूलगुण इस प्रकार कहे हैं—

हिंसाऽसत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च सूक्ष्म बादर-भेदात्।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः ॥

अर्थात्—स्थूल हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह, जुआ, मांस और मदिरा इनका त्याग अष्ट मूलगुण है।

सागारधर्मामृतमे पण्डित आशाधरजीने अष्ट मूलगुण किन्हीं और आचार्योंके प्रमाणसे इस प्रकार कहे है—

मद्यपलमधुनिशाशन-पंचफलीविरति-पंचकाप्तनुतीः।
जीवदया-जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः ॥२।१८॥

अर्थात्—शराब, मास, शहद, रात्रिभोजन, पांच उदम्बर फल (बड़ फल, पीपल फल, पाकर फल, गूलर, और अजीर) इन सबका त्याग तथा पचपरमेष्ठीकी भक्ति, जीवदयापालन और जल छानकर पीना।

अष्ट मूलगुण धार, जान धर्मका मूल है।
इन बिन ना उद्धार, रहे मूलमें भूल है ॥४॥

सप्त व्यसन

इस प्रकार इन अष्ट मूलगुणोका पालन करें और साथ ही सप्त व्यसनोका त्याग करे व्यसन नाम शौक-आदतका है। इन सात बुराईयोंसे हम मोड ले अपनेको। व्यसन सेवन करने वाले व्यसनी कहलाते है। इस लोक और परलोकमे उन्हे दुख और अपयश उठाना पडता है; दुर्गतिकी प्राप्ति होती है। इसलिए भव्यजीवोको इन खोटे व्यसनोसे दूर ही रहना चाहिये।

जुआ चोरी मांस मद वेश्या-रमण शिकार।
पर-रमणी-रति व्यसन ये, सात कहे दुखकार॥

अर्थात्–जुआ खेलना, मांस खाना, मदिरापान करना, शिकार खेलना, वेश्यागमन करना, चोरी करना, और पर–स्त्री सेवन ये सात कुव्यसन हैं। इन सबसे अपनेको मोड़ ले। अगर एक भी लगा रहा तो सर्वथा अहित हो जायेगा। देखो एक-एक व्यसनके फन्देमे फँसकर पाण्डव राजकुमार, बक राजा, सेवक चारुदत्त, अपना अहित कर बैठे, लोकनिन्दा के पात्र बने, दुर्गतिमे गमन आदि अनेक कष्टोंको पाया। अत· हमे सप्तव्यसनोंका त्याग तो निश्चित करना ही है, अगर करना चाहते हैं नरजन्मको सफल तो।

सप्त व्यसन अति घोर, जगमें दुःख ही देत हैं।
जो तज दे करि जोर, पर भवमें सुख लेत हैं॥

रात्रि-भोजन

सप्तव्यसनोके त्यागके साथ-साथ ही हमें अपने जीवनमे हिंसासे बचने अहिंसा धर्मका पालन करने तथा अपने स्वास्थ्यको ठीक रखनेके लिये दिनमे ही भोजन करना उचित होगा, क्योकि दिनके बजाय रात्रिमे जीवोकी की उत्पत्ति दुगुनी हो जाती है, इसलिए हम सबको रात्रिभोजनका त्याग अवश्य कर देना है। त्याग हमे इसलिए कर देना है कि रात्रिभोजनसे लाभ तो कुछ भी नही है और हानियोकी भरमार है।

कुछ व्यक्ति रात्रिभोजनके पक्षमे यह तर्क देते हैं कि जब रात्रिमे विद्युत--प्रकाश द्वारा दिन जैसा प्रकाश हो सकता है तो रात्रिमे भोजन करनेमे कोई बुराई नही है। किन्तु उन लोगोका यह तर्क ठीक नही है, क्योकि विद्युतके कृत्रिम प्रकाश और सूर्यके प्राकृतिक प्रकाशमे बहुत बडा अन्तर है। दिनके समय बिजली की रोशनीपर वर्षाके मौसममे एक भी जीवाणु नही आता, जबकि उसी रोशनीपर रात्रि होते ही हजारो जीवाणु एकत्रित हो जाते हैं। सूर्य और बिजलीके प्रकाशमे जमीन-आसमानका फर्क है। जितनी अच्छी तरह वस्तुएँ सूर्यके प्रकाशमें दिखाई देती हैं वैसी बिजलीकी रोशनीमे कभी नही दिख सकती।

दिनके समयमे वायुमे आक्सीजनकी मात्रा अधिक होती है, - जो हमारे पेटमें भोजनको जल्दी पचानेमें सहायक होती है।

रात्रि–भोजनसे जीव हानि

कई जातिके सूक्ष्म जीव ऐसे हैं जो सूर्यकी गर्मीके कारण उत्पन्न ही नही होते , परन्तु बिजलीकी रोशनीमे यह शक्ति नही, जो जीवोकी उत्पत्ति न होने दे। कई जातिके जीव तो ऐसे होते हैं जो दिनमें तो सघन अन्धकारके किन्ही कोनोके आश्रित अपना समय व्यतीत करते हैं, परन्तु वही जीव जब

सूर्य पश्चिम दिशाकी गोदमे सो जाता है तब बिजलीके प्रकाशमें उछलने-कूदने लगते हैं। रात्रि मे भोजन बनाते, खाते समय ऐसे ही जीव अथवा पतंगे, मच्छरादि कीटाणु आकर हमारे भोजनमे गिर पड़ते हैं और उसे विषैला बना देते हैं। ऐसी कई घटनाएँ पढ़ी हैं और सुननेमें आई हैं कि रात्रिमे भोजन बन रहा था, उसी समय आके गिर गई एक छिपकली। फलतः जितने आदमियोने उस भोजन को जीमा उतने सभी मृत्यु-शय्या पर सो गये। ऐसी हजारो घटनाएँ आज तक हो चुकी हैं और अभी भी अनेक सुननेमें, देखनेमें आ रही हैं, अत. हमे सावधान हो जाना चाहिये।

रात्रि–भोजन से स्वास्थ्य–हानि

स्वास्थ्य की दृष्टिसे भी देखा जाय अपना भोजन हमे रात्रिमे सोनेसे तीन-चार घण्टा पहले करना उचित है, जिससे कि सोने तक, किया हुआ भोजन हजम हो जाय। अगर सोनेके समय तक भोजन नही पचता है तो वह भोजन आमाशयमे पडा-पडा सडता रहता है और अनेक रोगोकी उत्पत्ति करता रहता है। आजकल देखा जाता है कि उदररोगसे पीडित हजारो आतुर पडे है। इसका मूल कारण है रात्रि-भोजन। कहा गया है "अजीर्णे भोजनम् विषम्"। अजीर्णसे तात्पर्य है अर्द्धपक्व, अनपचा भोजन, पेटमे विष हो जाता है विष बनते ही रोगोके अकुर फूटना शुरु हो जाते हैं। इसलिये अगर उदरसम्बन्धी रोगोसे छुटकारा पाना चाहते हैं तो भोजन दिनमे ही करे दिनमे भोजन करनेसे उदरसम्बन्धी कम-से-कम नब्बे प्रतिशत बीमारियाँ कम हो जायेंगी। शरीर भी स्वस्थ और सुन्दर धर्म-कर्मके लिए बना रहेगा।

रात्रि भोजन-त्याग मात्र अहिंसाकी ही पुष्टि नही करता, अपितु इसके त्याग करनेसे जीवन सम्बन्धी कई लाभ होते हैं। इसलिए आचार्योने जोर देकर कहा है कि रात्रिभोजन करना पाप है। रात्रिभोजन किसी भी अवस्थामे नही करना चाहिए। जैनी का पहला चिह्न शास्त्रो मे रात्रि-भोजन-त्याग कहा है, इसलिए धार्मिक दृष्टि और स्वास्थ्यकी दृष्टिको देखते हुए हमे भोजन दिनमे ही करना चाहिए। दिनमे भोजन हम अकेले ही न करे, बल्कि यह सलाह अपने सभी मित्रोको दे, ताकि वह भी रोगोसे मुक्त हो।

रात्रिभोजनका निषेध मात्र जैनधर्ममें ही नहीं, अपितु भारतमे प्रचलित सभी धर्म और आजकलके वैज्ञानिक भी करते हैं। वेदोमे तो यहा तक लिखा है कि एक सूर्यमें भोजन एक बार ही करना उचित है। कही-कही तो ऐसा भी लिखा है कि मनुष्य वही है जो दिनमे एक समय भोजन करता है, अगर एक समय भोजन करनेसे काम न चले तो सायंकाल दिन अस्त होनेसे तीन घड़ी पूर्व भोजन कर लेना चाहिए। इसके बाद भोजन वर्जनीय है।

शास्त्रों में कई ऐसी कथायें पाई जाती हैं, कि जिन्होंने मात्र रात्रि-भोजन का त्याग किया और सकट आने पर भी त्यागको न छोडा, तो उसके प्रतापसे कई चमत्कार दिखाई दिए और स्वर्गादि सद्गतियोंकी प्राप्ति की। यह घटना भी सत्य ही है, क्योंकि वहाँ पर जो त्यागकी भावना थी, यह सब उसीका फल है।

रात्रिमें मात्र अन्नका त्याग क्यों ?

कुछ लोगोका कहना है कि जैनधर्ममें रात्रिको दूध-मलाई खानेकी छूट क्यों दी गई है, और अन्नका निषेध क्यो किया गया है ?

शास्त्रोमें आचार्योंने वैसे तो अन्नादि सभी पदार्थोंका रात्रिमें सर्वथा त्याग कहा है। अगर किसीसे न बने तो पानी आदि ले सकता है, क्योंकि अन्नके आश्रित रात्रिमे अनन्त जीव आ जाते हैं और वह देर से पचता है। पण्डित आशाधरजी के सागारधर्मामृतकी टीकामे रात्रिको असमर्थोंके लिए अन्नका त्याग लिखा है—

रागं जीव-वधापाय-भूयस्त्वात् तद्वदुत्सृजेत्।
रात्रिभक्तं यथा युञ्ज्यान्न पानीयमगालितम् ॥२।१४॥

टीकामें "रात्रि भक्त" का अर्थ—रात्रौ अन्नप्राशन यानी रात्रिको अन्न न खाना ऐसा किया है। तथापि फलाहार आदि भी नही करना चाहिये, क्योंकि दोनो में दोष लगता है। रात्रिमे फल, दूध और उन पदार्थों से बनी वस्तुएँ जिनकी सज्ञा अन्नमे न गिनी जाती हो, इन सबकी छूट मात्र बालक विद्यार्थी जीवनमें और किसी व्याधिसे पीडित होनेपर ही दी गई है, प्रत्येक दिनके लिए नही। अगर हम दिनके अस्त होनेसे दो घण्टे पूर्व ही भोजन कर लेगे तो आराम से एक-दो समय जल पी सकते हैं, फिर रात्रिमे उसके लेनेकी आवश्यकता ही नही। अतः रात्रिभोजन अपनी जीवनरक्षाके लिये हमे अवश्य त्याग करना होगा।

रात्री भोजन करनसे, धर्म कर्म सब जाय।
दिनमें भोजन शुद्ध जो, करें रोग ना आय ॥६॥

पानी छान के पीना

अनछना पानी पीनेसे पानीमें रहनेवाले कीटाणु पेटमें जाते हैं और अनेक व्याधि उत्पन्न कर देते हैं। पेटमें आज प्राय. करके कीड़े पाये जाते है, उनमे मुख्य कारण है बिना छना जल। पानी की एक बूँदमे अनेक जीव होते हैं ऐसा आचार्योंका मत है। आज के सुप्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता

"केप्टन स्ववोर्सवी" ने इनको (कीडोको) दूरबीन (सूक्ष्म दर्शक यन्त्र) से देखकर इनका फोटो लिया है। आपने उन सूक्ष्म जन्तुओकी सख्या ३६४५० बनलाई है, यह सख्या पानीके एक सबसे छोटे बिन्दुमे होने वाले जीवोंकी है। और भी अनेक वैज्ञानिकोका यह कहना है कि पानी हमेशा छानकर ही पीना चाहिए, क्योंकि बिना छना पानी पीने से सूक्ष्म जन्तु पेटमें जाकर अनेक भयानक बीमारियाँ उत्पन्न कर देते हैं। अत इन विषैले रोगोत्पादक जन्तुओंके विषसे बचनेके लिए छानकर पानी पीना परम आवश्यक है। ऋषि मनुजीने भी पानी छानकर पानेका उपदेश दिया है—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जल पिबेत्। मनुस्मृति ६/४७

अर्थात्—जमीनको देखकर चलो और वस्त्रसे छानकर पानी पियो। अन्यथा सूक्ष्म जीवोको मारनेके अपराधी बनोगे। स्वामी दयानन्दजीने भी सत्यार्थप्रकाशके तीसरे समुल्लासमे पानी छानकर ही पीनेका उपदेश दिया। अत धार्मिक और वैज्ञानिक सभी विद्वानोकी सम्मतिमे पानी छानकर ही पीना परम आवश्यक है। हमारे परम आचार्योका कहना ही नही, आदेश है कि अहिसा धर्मके पुजारियोको हमेशा रेजीके दुहरे वस्त्रसे जल छान कर ही पीना चाहिए और जीवाणीको यथास्थान पहुंचाइये। अत हम पानी छानकरही पियें।

पानी पीना छानके, कछू कष्ट ना होय।
जीव-दया हो जायगी; पाप लगे ना कोय ॥७॥

इन ऊपर लिखे नियमोका जो पालन करता है उसे ही श्रावक कहते हैं।

ब्राह्म-मुहूर्तमें जागे

अपने जीवनको सफल बनानेके लिए, आवश्यक कर्त्तव्योका निराकुलता के साथ पालन करनेके लिए, ज्ञानज्योति जगानेके लिए, स्वस्थ और समृद्धि-शाली बनने के लिए हम जल्दी अर्थात् ब्रह्ममुहूर्तमे प्रातः चार बजे ही निद्राका त्याग कर दे, पलगसे नीचे उतर आये, आवश्यक कार्योंमें लग जाये, इसी सम्बन्धमें किसी अग्रेज विद्वान्‌ने कहा है—

Early to bed early to rise.
Makes a man healthy, wealthy and wise.

जल्दी सोना, जल्दी उठना, मनुष्यको स्वस्थ, धनवान्, और बुद्धिमान बनाता है, अर्थात् प्रातः सूर्योदयसे पूर्व उठना ही हमारे लिये लाभप्रद है। विद्यार्थी-जीवनमे भी हमे जल्दी उठने पर ही पूर्ण लाभ होगा। ब्राह्ममुहूर्तमें जागकर हमे क्या-क्या करना है, यह आगे बताया जा रहा है।

श्रावककी दिनचर्या

प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व ब्रह्म मूहूर्तमे जागकर णमोकार मन्त्रका स्मरण करें और विचार करें कि मैं वास्तवमे ओदारिक, तैजस,कार्माण-इन तीन शरीरों के अन्दर छिपा हुआ स्वभावसे परम शुद्ध चैतन्यात्मा हूँ। मेरे जन्म-मरण का दु.ख, जिसकी वेदना सही नही जाती और जो अनादिकालसे लगा है, वह कब छूटेगा ? ऐसी भावना भाते हुए दीर्घशका हेतु जाये। स्नानकर शुद्ध वस्त्र पहनकर कुछ समय सामायिक (ध्यान) करे, माला फेरे, आवश्यक पाठ पढे। इस संसार की असारताका चिन्तन करते हुए दिनचर्याके कुछ नियम कर ले कि आज हमको यह कार्य करना है, और सबका त्याग। मुख्यत प्रतिदिन करने योग्य सत्रह नियम ये हैं—

१. भोजन, २. सचित्त वस्तु, ३ गृह, ४ सग्राम, ५ दिशा गमन, ६. दवा विलेपन (औषध) ७. ताम्बूल, ८. पुष्प सुगन्ध, ६ नृत्य देखना, १०. गीत श्रवण, ११ स्नान, १२. ब्रह्मचर्य, १३ आभूषण, १४ वस्त्र, १५ शय्या, १६ औषधि लेना, १७. सवारी पर बैठना। इन सबका अपनी सुविधानुसार नियम कर लेना। जिस नियममे किसी प्रकारकी बाधा हो उसे नही करना। जैसे आज मैं भोजन दो बार करूँगा, सचित्त वस्तु नही खाऊँगा, दो घन्टे घरका त्याग है, आज संग्राम नहीं करूँगा, आज अमुक दिशामे इतनी दूरीसे अधिक गमन नही करूँगा औषध शरीर पर नही लगाऊँगा, पान नही खाऊँगा, पुष्प सुगन्ध नही लूँगा, नृत्य नही देखूँगा,गीत नही सुनूँगा, आज अमुक स्थान पर जाऊँगा अथवा नही, आज ब्रह्मचर्य से रहूँगा, अथवा इतने समय तकका त्याग, आज इतने आभूषण पहनूँगा अथवा नही, आज अमुक-अमुक वस्त्र पहनूँगा, शय्या पर शयन करूँगा या नही दवा खाऊँगा अथवा नही, आज सवारी पर बैठूँगा अथवा नही। इन सभी नियमोंको सामायिकके बाद मनकी चचलताको रोकनेके लिए कर लेना चाहिये। नियमके बाद उस वस्तुको सेवन करनेकी इच्छा ही नही होती। इस-लिये हमारा प्रत्येक कार्य नियमके साथ ही होना चाहिए। नियमके बिना फलकी प्राप्ति नही होती और बिना नियमके जीवन असंयमी कहलाता है। हमारे जीवन मे कोई-न-कोई नियम हर समय रहना चाहिए, क्योकि नियममे अगर शरीर भी छूट जाये तो वह दुर्गतिका पात्र नही बनता।

उपर्युक्त नियमोको हितकारी जानकर ग्रहण करना और क्रोध इत्यादि कषायोंका त्याग कर, धोखेबाजी, बेईमानी, अन्याय आदि इन सबको दूर ही से त्याग करे। तत् पश्चात् भगवान्के दर्शनार्थ मन्दिरजीमे जावे और विद्यार्थी

र्ज वन है तो देवाधिदेव के दर्शन करके पाठशाला, कॉलेज जाना चाहिए।

शुद्ध हृदयसे कीजिये, मन्दिर मांहि प्रवेश।
शुद्ध भावसे कीजिये, दर्शन वीर जिनेश॥

दर्शन विधि

सादा, शुद्ध, धुले हुए वस्त्र पहनकर घरसे जाते समय चावल, लौंग, बादाम आदि कुछ-न-कुछ यथाशक्ति हाथमे द्रव्य अवश्य लेकर जाना चाहिए। मन्दिरजीमे प्रवेश करनेसे पहले बाहर रखे हुए शुद्ध जलसे हाथ पैर धोवे और फिर मन्दिरजीमे प्रवेश करे। प्रवेश करते समय 'ॐ जय जय जय, नि.सहि नि सहि, नि सहि' बोलते हुए घण्टा बजावे।

नि सहि नि सहिका अर्थ है कि हमारे अन्दर राग-द्वेष कषायादि जो कुछ अशुद्ध भाव है वह हट जावे ताकि शुद्ध रूपसे दर्शन हो सके। कुछ आचार्यों का कहना है कि नि सहि-नि सहिका अर्थ है कि जो कोई देव दर्शन कर रहा हो तो हट जावे सामनेसे।

कुछ लोगो का कहना है कि मन्दिरजीमे प्रवेश करते ही घण्टा क्यों बजाया जाता है ? जब मनुष्य जय जय बोलता हुआ घण्टा बजाता है तब उसकी गूजती हुई धुनिमे भूल जाता है सबको और भगवान्‌की भक्तिमे लीन हो जाता है।

भगवान्‌के सामने आते ही सर्वप्रथम जिनेन्द्र-बिम्बको अच्छी तरह निरख लेना चाहिये। देखने का प्रयोजन यह है कि श्रीजीकी मुद्रा श्री अरहंत भगवान्‌के समान वीतरागी है या नही।

अर्घ—फिर घरसे लाये प्रासुक द्रव्यको उसका मन्त्र बोलकर चढ़ाना चाहिये। जैसे मानो आपके हाथमे अक्षत है तो यह बोलकर चढ़ावे—

क्षण क्षण जनम जो धारते, भयो बहुत अपमान।
उज्ज्वल अक्षत तुम चरण, पूज लहो शिव-थान॥

ॐ ह्रीं श्रीदेवशास्त्रगुरुभ्यो नम अक्षयगुणप्राप्तये अक्षत निर्वपामीति स्वाहा।

अर्थात्—आत्माके अविनाशी गुणोकी प्राप्तिके लिए मैं अक्षतोंको चढाता हूं। द्रव्य चढानेके बाद दोनो हाथ जोड तीन आवर्त कर नमस्कार करें और जहाँ वेदी के चारो ओर परिक्रमा हो वहाँ हाथ जोड़े हुए तीन प्रदक्षिणा देवें। प्रदक्षिणा देते समय हर दिशामे तीन आवर्तके हाथोको मस्तक पर लगा, झुक कर नमस्कार करते जावे। इस प्रकार करनेमें १२ आवर्त और चार नमस्कार होवेगे। प्रदक्षिणा देते समय णमोकार मन्त्र पढ़े, भगवान्‌के स्वरूपका

चिन्तवन करें, मेरी भावना आदिका पाठ करें और उनके एक-एक गुणका मनन करें। तत् पश्चात् भगवान्‌के सन्मुख आके संस्कृत अथवा हिन्दी भाषामे कोई दर्शन-पाठ बोले। तदनन्तर कायोत्सर्ग करें अर्थात् खड़े होकर तीन व नौ बार णमोकार मन्त्रके साथ-साथ श्री जिनेन्द्रदेवकी ध्यानमयी अनुपम मुद्रासे स्वरूपका चिन्तन करें। बादमे गधोदक अर्थात् भगवान्‌के चरणों के प्रक्षालनका जल अपने मस्तक और नेत्रोंमे लगावे। उस समय उक्त मन्त्रोको बोलते हुए पवित्र बननेकी भावना भायें।

गधोदक लेनेका मन्त्र और उसका फल—

> निर्मलं निर्मलीकरणं पवित्रं पापनाशनम्।
> जिन-गंधोदकं वन्दे चाष्ट-कर्म-विनाशकम्॥
> रोग हरे सुखको करे जिन स्नान का वारि।
> उत्तम अङ्ग लगाइये सब दुख होगे क्षारि॥

भगवान्‌का अभिषेक किया हुआ जल इतना पवित्र होता है कि अगर हम पूर्ण श्रद्धाके साथ मस्तक पर लगा ले तो समस्त पापोका क्षय हो जाता है, रोगोका नाश हो जाता है दरिद्रता नष्ट हो जाती, बुद्धि वृद्धिगत हो जाती है, समस्त सुखोकी प्राप्ति स्वयमेव ही हो जाती है। इसी गन्धोदकको मैनासुन्दरीने श्रीपाल आदि ७०० कुष्ट रोगियोके शरीर पर छिड़का था। फलस्वरूप कुछ ही समयमे सबकी कुष्ट व्याधि दूर हो गई। इसी प्रकार अगर पवित्र भावना से हम भी गन्धोदक लगायेंगे तो पवित्र हो जायेगे। इसकी महिमा का आजतक किसीने पार नही पाया है। जैसे जिसके भाव हो वैसी ही इसकी महिमा है।

भगवान्‌के दर्शनके लिए आते समय नीचे देखते हुए चलना चाहिये और रास्तेमें किसीसे बात नही करनी चाहिये। भगवान्‌के गुणोका चिन्तवन करना चाहिये। ऐसा करने में अनन्त पुण्य-फलकी प्राप्ति होती है। कहा भी है—

> मनचिन्ते जब सहस फल, लक्षा गमन करेय।
> होय अनन्ता फल ऊबै, तब जिनवर दर्शय॥

दर्शनके लिए परिचय

जिनेन्द्रदेवकी वीतरागी मुद्राको देखकर ज्ञान होता है अपनी आत्माका हमको। भाव निर्मल बन जाते हैं और हृदय-कमल जिनेन्द्र रूपी कमलको देखकर खिल जाता है। उस समय जो आनन्द आता है वह कहा नही जा सकता, मात्र अनुभव ही किया जा सकता है। पूर्ण आनन्द लेनेके लिए जिनेन्द्र भगवान्‌मे हमको परिचय कर लेना चाहिए, तभी सच्चा प्रेम होगा और तभी

सच्चा आनन्द आयेगा। उनसे परिचयके लिए हमको जानना होगा कि जिनेन्द्र भगवान् किसे कहते हैं और उनमे क्या-क्या विशेष गुण (मूल गुण) होते हैं? तभी हम णमोकार मन्त्रको समझेगे। णमोकार मन्त्रकी गहराईमे जानेके लिए (परिचय करनेके लिए), पचपरमेष्ठीसे प्रेम करनेके लिए, भगवान्‌की भक्तिमें लीन होनेके लिए आवश्यक है कि उनसे परिचय करें तभी प्रेम होगा, जब प्रेम होगा तभी सच्चा आनन्द आयेगा, जब सच्चा आनन्द आयेगा तभी भक्तिकी शक्ति प्रगट होगी, जब भक्तिकी शक्ति प्रगट होगी तभी होगा चलना मुक्ति पथकी ओर।

प्रभु के दर्शन करनेसे, निजमें ले निज जोय।
पाप टलें सब भवनिके, मुक्ति रमा पति होय॥

पंचपरमेष्ठीके मूलगुण

परमेष्ठी किन्हे कहते है? धर्म स्थानमे जिनका पद बड़ा होता है, गुणो की अपेक्षा जो सबसे श्रेष्ठ होते हैं और चक्रवर्ती, राजा, तथा इन्द्रादि देव भी जिनके चरणोमे अपना सिर झुकाते हैं, उन्हे परमेष्ठी कहते हैं। ये पाँच होते है। अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इनकी पूजन करनेसे, ध्यान करनेसे, स्तुति करनेसे, गुणोका चिन्तवन करनेसे परम इष्टकी सिद्धि, होती हैं। इसलिये भी इन्हे परमेष्ठी कहते है।

अरिहन्त परमेष्ठीका लक्षण–जिन्होने चार घातिया कर्मों–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तरायको चकनाचूर (नष्ट) कर दिया है और जो ४६ मूलगुणो तथा अनन्त उत्तरगुणोसे सुशोभित हैं, तथा अष्टादश दोषोंसे रहित हैं, वीतरागी, सर्वज्ञ तथा हितोपदेशी हैं, उन्हे अरिहन्त परमेष्ठी कहते हैं।

अरिहन्त परमेष्ठीके मूलगुण

चौतीसों अतिशय सहित, प्रातिहार्य पुनि आठ।
अनन्त चतुष्टय गुण सहित, ये छियालीसों पाठ॥

३४ अतिशय, ८ प्रातिहार्य, और ४ अनन्त चतुष्टय ये अरिहन्तके ४६ मूलगुण हैं। उत्तरगुण अनन्त है।

अतिशयोंके नाम या भेद

दश अतिशय हैं जन्मके, दश ही केवलज्ञान।
चौदह होते देवकृत, अतिशय चौंतिस जान॥

भगवान्‌का जन्म दश अतिशय युक्त होता है, केवलज्ञान होते ही १० अतिशय और प्रगट हो जाते है तथा उसी समय देवोके द्वारा किये गये १४ अतिशय भी होते हैं, इस प्रकार चौतीस अतिशय होते है ।

अतिशय किसे कहते है ? सर्व-साधारण प्राणियोमे नही पाई जाने वाली अद्‌भुत या अनोखी बातको अतिशय कहते हैं ।

जन्मके दश अतिशय

अतिशय रूप सुगन्ध तन, नाहिं पसेव निहार ।
प्रिय हित वचन, अतुल्य बल, रुधिर श्वेत–आकार ॥
लक्षण सहस रु आठ तन, समचतुष्क संठान ।
वज्रवृषभनाराच जुत, ये जनमत दश जान ॥

१ भगवान्‌का रूप मनोहर, अत्यन्त सुन्दर होता है, २ शरीरसे अत्यन्त सुन्दर सुगन्ध आती है, ३. शरीरमे पसीना नही आता है, ४ मलमूत्र नही होता है, ५ भगवान्‌की वाणी हित, मित और प्रिय होती है, ६. शरीरमे बल अतुल होता है, ७. रुधिर सफेद होता है, ८ उनके शरीरमे १००८ लक्षण होते हैं, ९. समचतुरस्र सस्थान (कोई भी हड्डीका उठाव न होना) होना और १० वज्रवृषभ-नाराच सहनन होना । ये दश अतिशय भगवान् अरिहन्तके जन्मसे ही होते हैं ।

केवलज्ञानके दश अतिशय

योजन शत इक में सुभिख, गगन गमन मुख चार ।
नहिं अदया उपसर्ग नहिं, नहिं कवला–आहार ॥
सब विद्या–ईश्वरपनों, नाहिं बढ़े नख केश ।
अनिमिष दृग छाया रहित, दश केवलके वेश ॥

१. भगवान् अरिहन्तको जब केवलज्ञान होता है उस समय उनके परित – चारो ओर सौ–सौ योजनमें 'सुकाल' आनन्द ही आनन्द हो जाता है । २ भगवान् जब विहार करते है (एक स्थानसे दूसरे स्थानको जाते है) तब पृथ्वी पर न चलकर आकाश-मार्गसे चलते हैं । ३. भगवान् एक ही होते है फिर भी चारो ओर मुख दिखते हैं । ४ भगवान्‌के समीप किसी प्रकारकी अदया (हिसा) नही होती है । ५. किसी प्रकारका उपसर्ग भगवान्‌के ऊपर नही होता है । (इसलिये उपसर्ग सहित, मूर्ति अरहन्त भगवान्‌की मानके नही पूजनी चाहिये) ६ कवलाहार (ग्रासवाला) आहार भगवान् नही करते । (क्योकि उन्हे क्षुधा वेदना नही सताती) ७. भगवान् समस्त विद्याओके स्वामी होते हैं ।

८. नख और केश भगवान्के नही बढते। ९. भगवान्के नेत्रोंकी पलकें नही झपकती। और १०. शरीरकी छाया नही पड़ती। यह दश अतिशय भगवान्को केवल-ज्ञान होते-होते ही प्रगट हो जाते हैं इसलिए इनको केवल-ज्ञानके अतिशय कहते हैं।

देवकृत चौदह अतिशय

देवरचित हैं चार दश, अर्धमागधी भाष।
आपस माहीं मित्रता; निर्मल दिश आकाश ॥
होत फूल फल ऋतु सबैं, पृथ्वी कांच समान।
चरण कमल तल कमल है, नभतें जय जय बान ॥
मन्द सुगन्ध बयार पुनि, गन्धोदक की वृष्टि।
भूमि विषै कंटक नहीं, हर्षमयी सब सृष्टि ॥
धर्मचक्र आगे चले, पुनि वसु मङ्गल सार।
अतिशय श्रीअरिहन्त के, ये चौंतीस प्रकार ॥

१ भगवान् जिनेन्द्रकी भाषा अर्धमागधी होती है। २. भगवानके समवसरणमे समस्त जीव अपना-अपना बैरभाव छोड़ देते हैं—परस्पर सबमे मित्रता हो जाती है। ३ समस्त दिशाएँ निर्मल हो जाती हैं। ४ आकाश भी निर्मल हो जाता है। ५. छहों ऋतुओंके फल-फूल अथवा धान्यादि भगवान्के समवसरणके समय एक ही साथ फल-फूल जाते हैं। ६. एक योजन तककी पृथ्वी दर्पणके समान निर्मल हो जाती है। ७ जब भगवान् गमन करते हैं उस समय चरणों—के नीचे सुवर्ण—कमलोकी रचना हो जाती है। ८ आकाश जय जयके शब्दोसे गूँज उठता है। ९. मन्द-मन्द और सुगन्धित पवन चलता है। १० सुगन्धमय जलकी वर्षा होती रहती है। ११ पवनकुमार देवो द्वारा पृथ्वी कटकरहित कर दी जाती है। १२. सभी जीवोके आनन्द हो जाता है। १३. भगवान्के आगे-आगे धर्मचक्र चलता रहता है। और १४. अष्ट मंगलद्रव्य साथ रहते हैं। ये १४ अतिशय देवो द्वारा किये जाते है, इसलिए इन्हे देवकृत कहते हैं। ये अतिशय भी केवलज्ञानके होने पर ही होते हैं।

प्रातिहार्य

तरु अशोकके निकटमें, सिंहासन छविदार।
तीन छत्र सिर पर दुरें, भामन्डल पिछवार ॥
दिव्य-ध्वनि मुखतें खिरे, पुष्प-वृष्टि सुर होय।
ढोरें चौसठ चमर जख, बाजे दुन्दुभि जोय ॥

१. समवसरणमें भगवान्के समीप अशोक वृक्ष होता है। २ अशोक वृक्षके नीचे ही रत्नमय सिंहासन होता है। ३. भगवान्के सिर पर तीन छत्र होते हैं। ४. भगवान्के पीछे भामण्डल होता है। ५. भगवान् जिनेन्द्रके मुखकमल से दिव्यध्वनि खिरती है। ६. समवसरणमें देवो द्वारा आकाशसे पुष्पोकी वृष्टि होती है। ७ देव भगवान्के ऊपर चौसठ चमर ढोरते है। ८. दुन्दुभि बाजे समवसरणमे बजते रहते हैं। इस प्रकार ये आठ प्रातिहार्य हैं। अत्यन्त शोभा युक्त चीजो या बातोको प्रातिहार्य कहते है।

अनन्त चतुष्टय

ज्ञान अनन्त, अनन्त सुख दरश अनन्त प्रमान।
बल अनन्त अरिहन्त सो, इष्ट-देव पहिचान॥

१. अनन्तदर्शन, २. अनन्तज्ञान, ३ अनन्तसुख और ४. अनन्तवीर्य ये अनन्त चतुष्टय हैं। इन चारोसे भगवान्का दर्शन, ज्ञान, सुख और बल अनन्त अर्थात् 'सीमा रहित' होते हैं, इसलिए इन्हे अनन्त चतुष्टय कहते है।

अष्टादश दोषोंके नाम

जन्म-जरा तृषा क्षुधा, विस्मय आरत खेद।
रोग शोक मद मोह भय, निद्रा चिन्ता स्वेद॥
राग द्वेष अरु मरण जुत, ये अष्टादश दोष।
नाहि होत अरिहन्त के, सो छवि व्यापक मोष॥

जन्म, जरा (बुढापा), तृषा (प्यास), क्षुधा (भूख), विस्मय (आश्चर्य), अरति (पीडा), खेद (दुःख), रोग, शोक, मद (गर्व), मोह (अज्ञान), भय (डर), निद्रा, चिन्ता, स्वेद (पसीना), राग, द्वेष, और मरण ये अष्टादश दोष भगवान् अरिहन्तके नही होते हैं।

इन ४६ मूलगुणोसे सहित और अष्टादश दोषोसे रहित भगवान् अरिहन्त होते हैं, इनके दर्शन करनेसे, ध्यान करनेसे इन गुणोकी प्राप्ति हमको भी हो सकती है, अगर श्रद्धासे ध्यावे तो।

अरिहन्तोंके गुणनमें, मन—वचसे अनुराग।
अनुभव निजका होयगा, दहै राग ना आग॥

सिद्ध परमेष्ठी

जो कर्ममलसे रहित हैं, जिन्होने मोक्षको प्राप्त कर लिया है, जो संसार से मुक्त हो गये, अर्थात् संसारमें कभी नही आवेगे, अष्टकर्मोको नष्टकर जिन्होंने अष्ट मूलगुणो को धारण किया है उन्हे सिद्ध परमेष्ठी कहते हैं।

सिद्ध परमेष्ठीके मूलगुण

समकित दर्शन ज्ञान, अगुरु लघु अवगाहना।
सूक्षम वीरज—वान, निराबाध गुण सिद्धके ।।

क्षायिक सम्यक्त्व, अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अनन्तवीर्य और अव्याबाधत्व ये आठ सिद्ध परमेष्ठीके मूलगुण हैं। उत्तरगुण अनन्त है।

सिद्धोमे मोहनीयकर्मके अभावमे सम्यक्त्व, ज्ञानावरणीय कर्मके अभावसे अनन्तज्ञान, दर्शनावरणीयकर्मके अभावसे अनन्तदर्शन, अन्तरायकर्मके अभावसे अनन्तवीर्य, नाम कर्मके अभावसे सूक्ष्मत्व, आयुकर्मके अभावसे अवगाहनत्व गोत्रकर्मके अभावसे अगुरुलघुत्व, और वेदनीयकर्मके क्षयसे अव्याबाधत्व गुण प्रगट होते हैं। ऐसे अशरीरा सिद्ध भगवान्का ध्यान करनेसे हमारे भी कर्म झरना शुरू हो जाते है और हमे भी सिद्धपद की प्राप्ति हो जाती है।

सिद्धोंका सुमिरण करें, पाप रहे न कोय।
करम झरत क्षण एकमें, निज गुण सिद्धि होय ।।१०।।

आचार्य परमेष्ठी

जो 'मुनि' पंच आचारोका स्वय पूर्णरूपसे पालन करते हैं, तथा दूसरे मुनियोसे पालन कराते है और जो साधुओके सघके अधिपति होते है उनको दीक्षा-शिक्षा या प्रायश्चित आदि उनके सुधारके लिए दण्ड देते है तथा जो श्रावक व मुनि धर्मका उपदेश देते है। उन्हे आचार्य परमेष्ठी कहते है। आचार्य परमेष्ठीके मूलगुण ३६ होते हैं।

आचार्य परमेष्ठीके मूलगुण

द्वादश तप दश धर्म जुत, पालें पञ्चाचार।
षट् आवश्यक गुप्ति त्रय, आचारज गुणसार ।।

१२ तप, १० धर्म, ५ आचार, ६ आवश्यक और ३ गुप्ति ये आचार्य परमेष्ठीके ३६ मूलगुण होते हैं। उत्तरगुण अनेक है।

तपोंके नाम वा उनके लक्षण

अनशन ऊनोदर करें, व्रत संख्या रस छोर।
विविक्तशयन आसन धरें, काय-क्लेश सुठौर ।।
प्रायश्चित धर विनय जुत, वैयाव्रत स्वाध्याय।
पुनि उत्सर्ग विचारके, धरें ध्यान मन लाय ।।

इच्छाओंका जीतना ही तप है। अनशन, ऊनोदर, व्रतपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्याशन, कायक्लेश, प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान ये १२ तप है। ये दो प्रकारके होते है— छ अन्तरग और छ बाह्य।

१ चारो प्रकारके आहारका त्याग (उपवास) करना अनशन कहलाता है। २ भूखसे कम जीमना अथवा एकाशन करना ऊनोदर कहलाता है। (ऊनोदरका अर्थ है हमको जितनी भूख हो उससे कम खावे)। ३. आहारको जाते समय अटपटी प्रतिज्ञा लेना व्रतपरिसंख्यान कहलाता है। ४. छहो या एक दो आदि रसोका त्याग करके आहार करना रस-परित्याग कहलाता है। ५ एकान्त स्थानमे सोना, बैठना, विविक्तशय्यासन कहलाता है। ६ शरीरको वशमे करनेके लिए सर्दी, गर्मी आदिका कष्ट सहना कायक्लेश कहलाता है। ये छ बाह्य तप कहलाते हैं। इनकी शोभा अन्तरंग तपोसे होती है। वे इस प्रकार हैं—

७ गल्ती या प्रमादके वशीभूत हो किसी प्रकारका दोष लग जाये, उसका गुरुसे दण्ड लेना प्रायश्चित कहलाता है। ८ रत्नत्रय और उनके पालन करनेवालोका आदर करना विनय नामक तप कहलाता है। ९ किसी भी व्याधिसे पीडित अथवा वृद्ध साधुओकी सेवा करना वैयावृत्त कहलाता है। १० शास्त्रोको पढना, पढाना, मनन करना और उपदेश देना स्वाध्याय नामक तप है। ११. शरीरम ममत्व छोडना व्युत्सर्ग कहलाता है। १२ निरन्तर आत्म-चिन्तवन करना ध्यान नामकतप कहलाता है। इन तपोका कुछ विवेचन आगे भी करेगे।

दश धर्मोंके नाम व उनके लक्षण

क्षमा मार्दव आर्जव, सत्य वचन चित पाग।
संयम तप त्यागी सरब, आकिञ्चन तिय-त्याग॥

१. किसीके द्वारा अपमानित और दुखित किये जानेपर बदला लेनेकी शक्ति होनेपर भी क्रोध नही करना अथवा प्राणिमात्रके ऊपर क्षमाभाव रखना, उत्तम क्षमा नामक आत्माका धर्म कहलाता है। २. किसी प्रकारका मान नही करना उत्तम मार्दव कहलाता है। ३. किसीके साथ कपट नही करना उत्तम आर्जव धर्म कहलाता है। ४. सदैव सत्य बोलना उत्तम सत्य धर्म कहलाता है। ५ किसी प्रकारका लोभ नही करना उत्तम शौच धर्म कहलाता है। ६ छह कायके जीवोकी रक्षा करना व दया पालना और पांचो इन्द्रियो व मनको वशमे रखना उत्तमसयम कहलाता है। ७. द्वादश प्रकारका तप करना उत्तम तप

धर्म है। ८ चार प्रकारका दान देना और राग-द्वेष आदि का त्याग करना उत्तम त्याग कहलाता है। ९. अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग-परिग्रह का त्याग करना, उत्तम आकिञ्चन्य कहलाता है। और १० आत्मामे लीन रहना अथवा स्त्रीमात्र का त्याग करना, अठारह हजार शीलके दोषोंसे बचना, उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म कहलाता है। ये दश धर्म हमारे आत्माके ही निजी स्वभाव हैं। जो भव्यजीव सच्चा सुख चाहते हैं वह इन दश धर्मोकी शरण ले तो समस्त क्लेश नष्ट हो जायेगे और स्वभावकी व सच्चे आनन्दकी प्राप्ति हो जायेगी।

आचार तथा गुप्ति

दर्शन ज्ञान चारित्र तप वीरज पञ्चाचार।
गोपें मनवचकायको गिन छत्तिस गुण सार॥

दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार ये पाँच आचार है। १ सम्यग्दर्शनमे दोष न लगने देना दर्शनाचार कहलाता है। २ सम्यग्ज्ञानको बढाना और उसके दोष हटाना वह ज्ञानाचार कहलाता है। ३ अपने सम्यक्चारित्रको विशुद्ध रखना चारित्राचार कहलाता है। ४. जो सदैव तपकी वृद्धि करते रहते है वह तपाचार है। और ५ अपने आत्मबलको जो प्रगट करते है वह वीर्याचार कहलाता है। दर्शन, ज्ञान-चारित्र आदिमे किसी प्रकारके दोषो को न लगने देना, उन्हे निरन्तर बढाते रहना आचार कहलाता है।

गुप्ति-लक्षण—विषयोकी अभिलाषा छोडकर मन, वचन, कायकी स्वच्छन्द प्रवृत्तिको रोकना गुप्ति कहलाती है। वह तीन प्रकारकी है—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति। मनकी चचलताका रुक जाना मनोगुप्ति है। वचन-वर्गणाको वशमे कर लेना वचनगुप्ति कहलाती है। कायकी कुचेष्टाओंका वश मे हो जाना कायगुप्ति कहलाती है। जिन्होने इन तीन बुराइयोको वशमे कर लिया, समझो उन्होने तीनो लोकपर विजय प्राप्त कर ली। इसलिये हम सबको चाहिए कि तीनो मन, वचन, कायको वशमे रक्खे।

आवश्यकोंके नाम व भेद

समता धर वन्दन करें, नाना थुति बनाय।
प्रतिक्रमण स्वाध्याय जुत, कायोत्सर्ग लगाय॥

समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, और कायोत्सर्ग ये आवश्यक कार्य हैं। १. समस्त जीवोसे समता भाव रखना समता कहलाती है।

२ दोनो हाथ जोडकर मस्तकमे लगाकर नमस्कार करना वन्दना कहलाती है।
३. चौबीस तीर्थंकर या पञ्चपरमेष्ठीका गुणगान करना स्तुति कहलाती है।
४. प्रमाद वश लगे हुए दोषोका प्रायश्चित करना प्रतिक्रमण कहलाता है।
५ शास्त्रो का पढना–पढाना, स्वाध्याय कहलाता है। और ६ खडे होकर ध्यान करना तथा शरीरसे ममत्व छोडना कायोत्सर्ग कहलाता है। आवश्यक शब्दका अर्थ है प्रत्येक दिन करना, इन छह कार्योमे किसी प्रकारका प्रमाद नही करना।

ऐसे इन छत्तीस मूलगुणोसे विभूषित जो आचार्य परमेष्ठी है, उनकी जो भव्य जीव शरण लेता है, उनके गुणोका चिन्तवन करता है वह एक दिन समस्त दुखोसे परे होकर सच्चे सुखोको प्राप्त करता है। इसलिए ऐसे परम तपस्वी आचार्य महाराजकी भक्तिमे हमको सदैव लीन रहना चाहिए।

आचार्योंके ध्यानसे, भाव बढ़ें दिन रात।
निजमें करके आचरण, मुक्ति-रमाको पात ॥११॥

उपाध्याय परमेष्ठी

जो महामुनि ११ अङ्ग और १४ पूर्वके ज्ञानी होते है तथा मुनियोको पढाते हैं, शिष्योको तत्त्वका उपदेश देते है उन्हे उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं। इन ११ अङ्ग और १४ पूर्वका पाठी होना ही उपाध्याय परमेष्ठीके पच्चीस मूलगुण है। उत्तरगुण अनेक है।

ग्यारह अङ्गोंके नाम

प्रथमहिं आचाराङ्ग गनि, दूजो सूत्रकृताङ्ग।
ठाण अङ्ग तीजो सुभग; चौथो समवायाङ्ग॥
व्याख्यापण्णति पांचमों, ज्ञातृकथा षट् जान।
पुनि उपासकाध्ययन है, अन्तःकृत दश ठान॥
अनुत्तरण उत्पाद दश, सूत्र विपाक पिछान।
बहुरि प्रश्न व्याकरणयुत, ग्यारह अङ्ग प्रमान॥

आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृकथाङ्ग, उपासकाध्ययनाङ्ग, अन्त कृद्दशाङ्ग, अनुत्तरोत्पादकदशाङ्ग, प्रश्नव्याकरणाङ्ग, और विपाकसूत्राङ्ग ये ११ अङ्ग है।

चौदह पूर्वोंके नाम

उत्पाद पूर्व अग्रायणी, तीजो वीरजवाद।
अस्ति नास्ति प्रवाद पुनि, पञ्चम ज्ञानप्रवाद॥

छट्ठो कर्मप्रवाद है, सत्प्रवाद पहिचान ।
अष्टम आत्मप्रवाद पुनि, नवमों प्रत्याख्यान ॥
विद्यानुवाद पूरव दशम, पूर्वकल्याण महन्त ।
प्राणवाद क्रिया बहुल, लोकबिन्दु है अन्त ॥

उत्पादपूर्व, अग्रायणीपूर्व, वीर्यानुवादपूर्व, अस्ति-नास्तिप्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवादपूर्व, कर्मप्रवादपूर्व, सत्प्रवादपूर्व, आत्मप्रवादपूर्व, प्रत्याख्यानप्रवादपूर्व, विद्यानुवादपूर्व, कल्याणवादपूर्व, इस प्रकारसे १४ पूर्व है।

इन २५ गुणोसे मण्डित उपाध्याय परमेष्ठीकी सेवा-भक्ति करनेवाले भी ११ अङ्ग और १४ पूर्वके ज्ञानी बन जाते है। इसलिए हमे निरन्तर उपाध्याय परमेष्ठीके गुणोका चिन्तवन और भक्ति करते रहना चाहिए।

उपाध्याय पच्चीस गुण, जो चिन्ते मन मीत ।
ज्ञानी होकर निज लखें, भवदुःखको ले जीत ॥

साधु परमेष्ठी

इन्द्रियजनित सुखोकी इच्छाको त्याग दिया है और दोनों प्रकारके संग (परिग्रह) से हटा लिया है ममत्व जिन्होने, ऐसे २८ मूलगुणोके धारी, आरम्भ के त्यागी, ससार-शरीर-भोगोसे विरक्त होकर जो सदैव आत्म-ध्यानमे लीन रहते हैं, उन्हे साधु परमेष्ठी कहत है।

साधु परमेष्ठीके मूलगुण

पञ्च महाव्रत, समिति पंच, पञ्चेन्द्रियका रोध ।
षट् आवश्यक साधुगुण, सात शेष अवबोध ॥

५ महाव्रत, ५. समिति, ५ इन्द्रिय-विजय, ६. आवश्यक और ७. शेष गुण, ये २८ मुनियोके मूलगुण हैं उत्तरगुण अनेक है।

महाव्रतोंके नाम व लक्षण

हिंसा अनृत तस्करी, अब्रह्म परिग्रह पाप ।
मन बच तनतै त्यागवो, पञ्च महाव्रत थाप ॥

मन, वचन, कायसे पाँचो पापोका पूर्ण त्याग करना महाव्रत कहलाता है। अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत, और परिग्रह-त्याग महाव्रत इस प्रकार ये पाँच महाव्रत है।

मन, वचन कायसे सर्वथा हिंसाका त्याग कर देना अहिंसामहाव्रत कहलाता है। मन वचन कायसे सर्वथा असत्यका त्यागकर देना सत्यमहाव्रत कहलाता

मन वचन कायसे सर्वथा हिंसाका त्याग कर देना अहिंसामहाव्रत कहलाता है। मन वचन कायसे सर्वथा असत्यका त्याग कर देना सत्यमहाव्रत कहलाता है। मन वचन कायसे सर्वथा चोरीका त्याग कर देना अचौर्य महाव्रत कहलाता है। मन वचन कायसे सर्वथा मैथुनका त्याग करना ब्रह्मचर्य महाव्रत कहलाता है। मन वचन कायसे सर्वथा चौबीस प्रकारके परिग्रहोंका त्याग कर देना परिग्रह-त्याग महाव्रत है।

समितियों के भेद व लक्षण

ईर्या भाषा एषणा, पुनि क्षेपण आदान .
प्रतिष्ठापना जुत क्रिया, पाँचो समिति विधान ।।

गमनादिमे जीवघातादिमे बचनेका यत्नाचार रखना समिति कहलाती है। ये पाँच होती है। उनके नाम इस प्रकार है—ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापना।

१ गमन करते समय सामने चार हाथ पृथ्वीको देखकर चलना कि कोई जीवघात न हो जाये ईर्यासमिति कहलाती है। २ बचन बोलते समय हित-मित और परिमितपनेका ध्यान भाषा समिति कहलाती है। ३ आहारके विषयमे निर्दोषता और शुद्धिका ध्यान रखना एषणासमिति कहलाती है। ४ शास्त्र, पीछी आदि धरते, उठाते समय जीव-रक्षाका ध्यान रखना आदान-निक्षेपण समिति कहलाती है। ५ मल दि त्यागते समय निर्जीव भूमि पर ही त्याग ऐसा ध्यान रखना प्रतिष्ठापना समिति कहलाती है।

इन्द्रियविजय और शेष मूलगुण

सपरस रसना नासिका, नयन श्रोत्रका रोध .
शेष सात मज्जन तजन, शयन भूमिका शोध ।।
वस्त्र त्याग कचलुंच अरु, लघु भोजन इक बार ।
दातुन मुख में न करें, ठाड़े लेहिं अहार ।।

अपनी इन्द्रियोको वशमे करना, उनके इष्ट और अनिष्ट विषयोमे रागद्वेष नही करना, 'इन्द्रिय विजय' नामक पाँच मूलगुण हैं।

१ स्नान नही करना, २ भूमि पर शयन करना, ३. वस्त्र ग्रहण नही करना, ४. अपने हाथोसे केशोका लोच करना, ५ आहार दिनमे एक बार (सूर्य उदय होने से तीन घडी पश्चात् अथवा अस्त होनेसे तीन घडी पूर्व थोड़ा

करना, आहार लेनेसे पूर्व दातौन (मंजन) नही करना, और ७. आहार खड़े होकर लेना, ये साधु परमेष्ठीके मूलगुण हैं ।

षट् आवश्यक—समता धर बन्दन करें, नाना थुति बनाय ।
प्रतिक्रमण स्वाध्याय जुत, कायोत्सर्ग लगाय ।।

समताभाव धारण करना, तीर्थंकरकी वन्दना करना, चौबीसों भगवान् की स्तुति करना, प्रतिक्रमण करना, स्वाध्याय और ध्यान करना, यह सब मिलाकर २८ मूलगुण होते हैं । इन २८ मूलगुणोंसे मंडित मुनिराजोंकी भक्ति निरन्तर करते रहना चाहिये ।

मुनिगुण मन में चिन्तवन, करते जो दिन रैन ।
भव भवके पातक कटें, ऐसे जिनवर बैन ।।

पंचपरमेष्ठीके इन सब मूलगुणो का चिन्तन हमको णमोकार मन्त्रका जाप करते समय करना चाहिये । जब हम इन गुणोंका चिन्तन शुरू कर देंगे तो हमारा मन कही नही जायेगा । मनको स्थित रखनेके लिए जिसका स्मरण करते हो उसके गुणोंसे परिचित होना भी आवश्यक है । पंचपरमेष्ठीके गुणोंका चिन्तवन व मनन करनेसे हमे आत्मशान्तिके साथ परमपदकी प्राप्ति होगी । अत. निरन्तर इनके गुणोंमे अनुराग बनाये रहे ।

पञ्च परमपद ध्यानसे, जगमें कीरति होय ।
जो इनको निजने लखें, करम बन्ध ना होय ।।

इस प्रकार शुभाशुभ, नरजन्मकी सार्थकता, सप्तव्यसन, अष्टमूलगुण
दर्शनविधि ओर पंचपरमेष्ठीके मूलगुणोका वर्णन करनेवाला
प्रथम अध्याय पूर्ण हुआ ।

ॐ जय

卐

द्वितीय भाग

श्रावक के षट् आवश्यक कर्म

निज आवश्यक सिद्धिको, नमूं सिद्ध भगवान् ।
श्रावक आवश्यक कहूं, वो मम अन्तरज्ञान ॥१५॥

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥

जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना, गुरुकी उपासना करना, शास्त्रोंका स्वाध्याय करना-कराना, इन्द्रियोंपर नियन्त्रण एवं प्राणिरक्षारूप संयम रखना, अनशन-रसत्यागादि तप करना तथा अपनी शक्ति के अनुसार पात्रोंको श्रद्धाके साथ और दीन-दुखी जीवोंको करुणाभावसे आहार, औषधि, ज्ञान और अभयदान देना। ये छह आवश्यक कार्य गृहस्थको प्रत्येक दिन करना आवश्यक है। इसलिए समस्त संसारी कार्योंको त्यागकर सर्वप्रथम मानवमात्रको इन अपने आवश्यक कर्मोंको करना चाहिये।

प्रत्येक मानव आत्मशान्ति चाहता है। पर आत्मशान्ति तथा सुख धर्म-कार्यसे प्राप्त होता है। अतः धर्मके कार्य करना प्रत्येक व्यक्तिके लिए परम आवश्यक है। कभी-कभी जो मनुष्य सांसारिक कार्योंको मुख्य मानकर, किसी कार्यकी आवश्यकताको पूरी करनेके लिए नित्य नियम अथवा नैमित्तिक धर्म-साधनमें कमी कर देते हैं वे गलती करते हैं। अपने नित्य नियमके षट् धर्म-कार्योंको परम आवश्यक समझकर उनमें रंचमात्र भी कमी कभी न होने दें, क्योंकि आत्म-कल्याण अपने कर्त्तव्यका पालन करनेसे होता है, सांसारिक कार्य करनेसे नहीं। जो मानव समस्त कार्योंको छोडकर सर्वप्रथम षट् आवश्यक कर्मोंको करता है, उसकी सभी आवश्यक समस्याएँ स्वयमेव ही पूर्ण हो जाती हैं। आवश्यक कर्म करनेसे पुण्यका संचय होता है। पुण्यका संचय होनेसे पापका नाश होता है, पापका नाश होनेसे हमारा कितना भी कठिन काम क्यों न हो सहजमें ही पूर्ण हो जाता है, आवश्यक कर्मोंका जो पालन करते हैं। मुक्ति-लक्ष्मी भी उनके आसपास चक्कर लगाती है फिर और क्या कार्य कठिन हो सकते हैं।

आवश्यक बिन न बने मन चाहे जग काम ।
षट् आवश्यक पालके नाश क्रोध और काम ॥१६॥

प्रथम आवश्यक कर्म : पूजन

पूजा किसे कहते हैं ? मन वचन कायसे भगवान् जिनेन्द्रके गुणोंका विशेष रूपसे वर्णन, चिन्तन व मनन करते हुए, (मोक्षफलकी इच्छासे) जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फलादि, द्रव्योंको जिनेन्द्र भगवान्के समक्ष चढ़ाते हुए भूख, प्यास, मोह अज्ञान, ज्ञानावरणादि कर्म, सांसारिक सन्ताप, कामवासना-नष्ट, अविनश्वर मुक्तिपद प्राप्त करनेकी पवित्र भावना भानेको पूजन कहते हैं।

सच्चा पुजारी कौन ?

आचार्योंने सच्चे पुजारीका चित्रण करते हुए कहा है कि सच्चा पुजारी वही है जो लौकिक इच्छाओंको भगवान्के समक्ष न रखकर, भाता है भावना भक्तसे भगवान् बननेकी, हो जाता है उनके गुणोंमें लीन, भूल जाता है घर और परिवार जनोंको, कर लेता है आसीन भगवान्को स्वहृदय-कमलासन पर, मिला लेता है अपनी ज्योतिको मूर्तिमान्में। जो ख्याति-लाभकी भावनासे, पुत्र-संपदा की भावनासे या उदरपूर्तिकी भावनासे भगवान्का पूजन करता है वह सच्चा पुजारी नहीं अर्थात् भगवान्की सच्ची पूजा नहीं कर सकता। ऐसा ही किसी विद्वान्ने कहा है—

He, who is a slave to his belly seldom worship God.

जो अपने उदरका गुलाम है वह भगवान्की पूजा नहीं कर सकता, अर्थात् जिसकी रुचि मात्र सासारिक सुखोंमें है वह भगवान्की सच्ची पूजा नहीं कर सकता। अतः हमे बिना किसी प्रकारकी लौकिक इच्छाके ही भगवान्की पूजा करनी है। जब पूजनका उत्तम फल पूज्य बनना है तो सामान्य फल तो हमे बिना माँगे ही मिलेगा।

पूजनके अंग

सर्वप्रथम भगवान् जिनेन्द्रका शुद्ध प्रासुक कुँएके जलसे विधिपूर्वक अभिषेक करना। तत्पश्चात् पुष्प चढाते हुए ठोनेमें आह्वान (बुलानेकी क्रिया-अत्र अवतर-अवतर रूपमे), फिर स्थापना (अत्र तिष्ठ-तिष्ठके रूपसे ठोनेमें पुष्प चढ़ाते हुए भगवान्की स्थापनाकी क्रिया) तदनन्तर सन्निधिकरण (अत्र मम सन्निहितो भव-भव कहते हुए हृदयके निकट करनेके लिए ठोनेमें पुष्पक्षेपण करना) होता है।

यह सब पूर्वकी क्रिया करनेके बाद अष्टद्रव्योंको क्रमशः जलादि द्रव्योंके छन्द पढ़कर चढ़ाना चाहिए। समस्त पूजन कर लेनेके अनन्तर शान्तिपाठ

पढ़कर ठोनेमें पुष्प चढ़ाते हुए पूजनकी समाप्ति करना विसर्जन है। **इस तरह अभिषेक, आह्वान, स्थापना, सन्निधिकरण, पूजन, शान्तिपाठ और विसर्जन ये पूजाके अंग हैं।** इनके किये बिना पूजा अधूरी रहती है।

अंग—शुद्धि

अंग-शुद्धि अर्थात् स्नान। शास्त्रोंमे अंगशुद्धि पाँच प्रकारसे बतलाई है—

मंत्रस्नानं, जपस्नानं तपःस्नानं तथैव च।
दयास्नानं जलस्नानं षष्ठं नैव विद्यते॥

अर्थ—मंत्रस्नान, जपस्नान, तपस्नान, दयास्नान और जलस्नान ये पाँच प्रकारके स्नान होते हैं। इनमेसे जलस्नानके अतिरिक्त शेष चार स्नानोंके द्वारा तो निर्जन जंगलमे रहनेवाले स्वानुभावमें निमग्न महामुनिराज अपनी अंगशुद्धि करते हैं। पाँचवां जो जलस्नान है इसके द्वारा पूजादि शुभ कार्योंको करनेके लिए श्रावकजन अपनी अंगशुद्धि करते हैं।

पूजन करनेके लिए सर्वप्रथम शुद्ध छने हुए जलसे स्नान कर शुद्ध धुले हुए धोती और दुपट्टादि पहनना चाहिये। अधोवस्त्र (धोती) और उत्तरीय वस्त्र (दुपट्टा) अलग-अलग होना चाहिए। धोतीका ही भाग नही ओढ़ना चाहिए। अगर प्राप्त हो तो पूजा करते समय मुकुट भी बाधना चाहिए।

सामग्री धोनेके लिए जल कुएँका ही काममे लेना चाहिए, क्योंकि कुएँका जल शुद्ध होता है, उसे छानकर जिवाणी भी कुएँमे पहुचाई जानी चाहिए, जिवाणी कुएँमे पहुचानेके लिए कडेकी बाल्टी होना अत्यन्त आवश्यक है, इससे जीवहानि नही होती है। अतः पूजनकी सामग्री कुएँके ही जलसे धोनी चाहिए।

पूजनके लिये किस दिशामें खड़े हों ?

आगममे पूर्व और उत्तर दिशा उत्तम मानी गई हैं। सूर्यका उदय पूर्व दिशामे होता है, समवसरणमे भगवान्‌का मुख भी पूर्व दिशामे होता है, अतः वह दिशा अत्यन्त शुभ है। उत्तर दिशामें सुमेरु पर्वत है जिसपर कि चारो दिशाओंमे १६ अकृत्रिम जिनालय बने हुए हैं, तीर्थंकरोका जन्माभिषेक भी सुमेरु पर्वतपर होता है। विदेह क्षेत्र भी उत्तर दिशामें है जहाँ कि कम-से-कम बीस तीर्थंकर शाश्वत विद्यमान रहते हैं। इसलिए उत्तर दिशाको शुभ माना जाता है। अतः पूजन, सामायिकादि शुभ कार्य करते समय मुख पूर्व अथवा उत्तर दिशामें रखना चाहिए पूजा-सामायिकादिके लिए प्रतिमाजीके समक्ष भी मुख करके खडे हो सकते हैं।

पूजन प्रारम्भ

अभिषेक करनेके पश्चात् अष्टद्रव्यका थाल सजाकर चौकीपर रखना चाहिए। एक दूसरे खाली थालमें केशर-चन्दनसे स्वस्तिक (सांथिया) बनाकर सामग्री चढ़ानेके लिए रखना चाहिए। एक ठौनेपर भी स्वस्तिक बनाकर उसे थालसे आगे रखना चाहिये। एक या दो पात्र जल चन्दन, चढ़ानेके लिए भी रखना चाहिये।

यह सब साधन जुटानेके बाद णमोकार मन्त्रपूर्वक स्वस्ति मंगल विधान ('श्री वृषभो नः स्वस्ति तथा 'स्वस्ति क्रियासु परमर्षयो नः' इत्यादि पाठ तक) करना चाहिए। स्वस्ति मगल-विधान कर लेनेपर देव, शास्त्र, गुरु, विदेह क्षेत्रस्थ वर्तमान बीस तीर्थंकर, सिद्ध परमेष्ठी आदिका पूजन प्रारम्भ करनेसे प्रथम ठौनेमें उस पूजन सम्बन्धी आह्वान, स्थापना, सन्निधिकरण करना चाहिए। तत्पश्चात् लीन हो जाये भगवान्‌के गुणोमे और उठती हुई भक्ति लहरोमें। प्रत्येक द्रव्य भगवान्‌के समक्ष अर्पित करते हुए मनरूपी सागरमे निम्न प्रकार भक्तिकी लहरे उठनी चाहिए अर्थात् यह भावना भानी चाहिए।

जल चढ़ाते समय—हे नाथ ! इस तृप्तिकर अतुल शान्तिमे विश्राम करते हुए आप तो जन्म, जरा, मरणसे अतीत क्षण-क्षणमें बर्तनेवाले दाहोत्पादक विकल्पोंकी दाहमे दूर, स्वयं एक शीतल सागर, निर्मल ज्योति हो। मुझे भी शीतलता प्राप्त हो। इन विकल्पोसे मेरी भी रक्षा हो, प्रभु ! मैं हूँ मुक्तिका इच्छुक, आपका दास अपनी इच्छा पूरण करनेके लिए, इस अलौकिक पवित्रताको पानेकी जिज्ञासा लिये लौकिक पवित्रताका प्रतीक यह जल लाया हूँ आपके चरणोंमें चढ़ाने। ऐसी भावना भाते हुए भगवान्‌के चरण-कमलोमे जल समर्पित करे।

चंदन चढ़ाते समय—हे शीतल-सिन्धु ! इस शीतल शान्त सरोवरमे वास करके आपने भव-संतापके दाहका नाश कर दिया है। मुझ संतप्तका दाह भी नष्ट हो प्रभु ! बडा खेदखिन्न हो रहा हूँ, चिन्ताओंका ताप नही सहा जा रहा है अब, इच्छाओकी ज्वालामे जल रहा हूँ। मेरी भी यह इच्छारूपी दाह शान्त हो। हे प्रभु ! अलौकिक शीतलताकी इच्छा लेकर, लौकिक दाहविनाशक शीतल यह चन्दन लायाहूँ आपके चरणोमे अर्पित करने। ऐसा चिन्तवन करते हुए मन्त्रपूर्वक भगवान्‌के सामने चन्दन चढाना चाहिये।

अक्षत चढ़ाते समय—हे अक्षय शान्ति-सागर ! हे अतुलनिधान ! क्षय कर डाली है, भग्न कर डाली हैं सब व्याकुलताये आपने। मोहादि शत्रुओको परास्त कर अक्षय पदको प्राप्त किया है आपने। स्वामी यह अक्षय सुख, शान्ति

मुझे भी मुझमे प्राप्त हो। इसलिये यह अक्षत (बिना टूटे हुए मुक्ताफल अथवा चावल) लेकर आया हूँ आपके चरणोंमे भेंट करने, भावों से समर्पित करने। ऐसा मनन करते हुए इन्ही भावो के साथ मन्त्रपूर्वक भगवान् के समक्ष अक्षत चढ़ाये तो हमें निश्चित ही अक्षय पद की प्राप्ति होगी।

पुष्प चढ़ाते समय—हे कामविजयी! शांति-रानी का कर-कमल ग्रहण कर, विश्व-विजयी बनकर इस कामवासनाको सदाके लिए परास्त कर दिया है आपने। अब आपके निकट आनेकी ताकत कहाँ है उसमे ? परन्तु आपसे पराजित हुआ काम अपने क्रोधकी ज्वालामे हम जैसे तुच्छ प्राणियोको भस्म किये दे रहा है। यहाँ कोई नही है बचाने वाला। प्रभु! रक्षा हो मेरी, इस कामदुष्टसे। आपकी शरणके सिवाय और किसीकी ऐसी शरण नही है जहाँ इसका साया न दिखे। इसलिए इस कामको जीतनेकी इच्छासे, आपकी शान्तिका कोमल स्पर्श करने व इसकी सुगन्धित श्वासमे अपनेको खो जानेकी इच्छा लेकर ही यह लौकिक कोमलता व सुगन्धिके प्रतीक पुष्प लाया हूँ आपके चरणोमे चढ़ाने। इन्हीं भावनाओंके साथ सामने रखी हुई थालीमे पुष्पक्षेपण करे।

नैवेद्य चढ़ाते समय—हे क्षुधाविनाशक! धूल सरीखे इन आकर्षक पर पदार्थोंकी अनादि कालसे लगी भूखको, शान्त कर लिया है आपने। जीत लिया है क्षुधारोगको आपने। मैं भी इसी क्षुधारोगसे पीडित हूँ। तीन लोक की सम्पत्तिका भोग करके भी जो आज तक तृप्त नही हुई है, ऐसी मेरी भूख भी शान्त हो जाये प्रभु! इस अनादिकालसे लगे क्षुधारोगको नष्ट करनेकी इच्छासे ही यह लौकिक क्षुधा निवारक, स्वादिष्ट, सुन्दर नैवेद्य लाया हूँ आपके चरणोंकी भेंट करने भगवन्। ऐसे भाव जगाते हुए नैवेद्य चढ़ावें तो शीघ्रातिशीघ्र हमारे क्षुधारोगकी शान्ति हो जायेगी।

दीप चढ़ाते समय—हे ज्ञानज्योति! त्रिलोकप्रकाशक! आन्तरिक अज्ञान अन्धकारका विनाश कर अतुल तेज जाग्रत किया है आपने। कोटि जिह्वाओंसे भी महिमा नही गाई जा सकती—उस तेजकी, उस अतुल प्रकाश केवल-ज्योतिकी, जिसमें तीन लोक, तीन कालवर्ती सर्व पदार्थ हाथ पर रखे आँवले की तरह प्रतिभास हो रहे हैं आपको। परपदार्थोंमें ही रस लेनेमें अन्धा हुआ आज मै अपनेको भी देखनेमें समर्थ नही हू। यह प्रकाश मुझे भी प्राप्त हो, ताकि मैं अपनेको जान सकू, मोहान्धकारको नाश कर सकू, इसलिये केवल ज्योति जगानेके लिए, अपनेको प्रकाशमें लानेके लिए, लौकिक उजाला करनेका प्रतीक यह दीपक आपके पदकमलोमे समर्पण करता हूं। इन विचारों के साथ चढाया हुआ दीपक वास्तवमे मुक्तिपथको प्रकाशित करेगा।

धूप चढ़ाते समय—हे रिपुविजयी ! दहन कर दिया है समस्त कर्म-कलंकोंको आपने, जला दिया है तपरूपी अग्निसे आपने समस्त विभावपरिणतिको। मेरी ओर भी देखो भगवन् ! मैं आया हूँ आपकी शरणमें आपके अनन्त ज्ञानसे ज्ञान प्राप्त कर अपने दोष नशाने, कर्मकलंकको जलाने, विभावपरिणतिको हटाने। इसलिये यह सुगन्धित धूप चढ़ाने आया हूँ आपके चरणोंमें। इस प्रकारसे की हुई भावनाके साथ जो धूप होमी जाये तो कर्मकलक कैसे जलें यह ज्ञान क्षणमें ही हो जायेगा।

फल चढ़ाते समय—हे इष्ट फल-प्रदायक ! आपको तो आपका लक्ष्य-बिन्दु जो शान्ति, सुख, आनन्द था, उस लक्ष्यकी प्राप्ति हो चुकी है, अविनाशी मुक्ति-रूपी फलको प्राप्त कर आप तो उसके स्वादमें मग्न हो रहे हैं। कुछ मेरी ओर भी निहारिये प्रभु ! मैं भी आपका सेवक हूँ, चरणोंका दास हूँ, मोक्षफलका भिखारी हूँ। इस मोक्षफलकी इच्छा लिये दर-दरकी ठोकरें खाता रहा, परन्तु इसे अभी तक प्राप्त न कर सका। आज आया हूँ, आपके द्वार पर, आपने जिस फलको अपने पुरुषार्थके बलसे प्राप्त कर लिया है उसे ही पानेके लिए। भगवन्! उस अक्षय फलकी प्राप्तिके लिए ही यह लौकिक फल आपके चरणोंमे भर थाल चढाने आया हूँ। सांसारिक किसी प्रकारके फलकी इच्छा नही है प्रभु ! मुक्ति-फल, बस मुझे प्राप्त हो प्रभु, यही मेरी अन्तिम भावना है।

द्रव्य पूजन—प्रत्येक द्रव्यके विषयमें अलग-अलग जो चढाने समय भाव बताये हैं, अगर उन भावोंसे पूजन करें तो निश्चित ही भक्तसे भगवान् बन जायेंगे, ससारीसे मुक्त बन जायेंगे, अतः पूजन भावोंके साथ ही करें। इसी प्रकारकी अनेक उठने वाली अन्तरंगकी मधुर-मधुर-कल्पनाओं पर बैठकर ऊँची-ऊँची उड़ानें भरते हुए मानो प्रभुके साथ तन्मय ही होने जा रहा हूँ। इन बाह्य जलादि द्रव्योंसे भगवान्की अर्चनाकी जो यह क्रिया है उसे कहते हैं द्रव्य पूजा, बाह्य पूजा। अन्तरग व बाह्य दोनो अंगोमें गुंथी यह है वास्तविक देवपूजा, जो एक शान्ति-सुखका उपासक, शान्ति-सुखके आदर्श अपने देवके प्रति करता है। पूजा देवके लिए नही, बल्कि अपनी शान्तिके आस्वादनके लिए ही होती है। यह उद्‌गार तो स्वतः ही प्रवाहित हो उठते । भगवान् कर्त्ता या दाता नहीं है—उनके गुणोमे अनुराग—भक्तिसे ही सब कार्य सिद्ध होते हैं, पर भक्त भक्तिके प्रवाहमे माँग बैठता है उनसे सब कुछ।

देव शास्त्र गुरु पूजते, निरमल बनते भाव।
पूजासे प्रभु निज मिलें, चूक न आना दाव॥१७॥

विसर्जन—जितनी पूजायें करनी हों उतनी सब करनेके पश्चात् शांति-

पाठ बोलना चाहिए। तदनन्तर अन्तमे पूजन-क्रियाकी समाप्ति पर विसर्जन करना चाहिए।

पूजन क्यों ?

यह पूजन वह पूजन है जो एक दिन भक्तको भगवान् बना देती है, यदि सच्ची पूजा की जाये। कुछ भाई तो मन्दिरजीमे आकर मात्र भगवान्का अभिषेक करके ही अपनेको कृतकृत्य मान बैठते हैं, परन्तु यह प्रथा ठीक नही। जो अभिषेक करे उन्हें भगवान्का पूजन अवश्य करना चाहिए। अगर हमारे पास समय न हो तो मात्र एक ही देव-शास्त्र-गुरुका पूजन करके घर चले जाये, परन्तु पूजन अवश्य करें। प्रात काल पूजन-भक्ति करनेसे हमारा मन पवित्र हो जाता है। दैनिक चर्या सुलभ हो जाती है, हमारे सामने कितनी ही विकट समस्याये क्यो न आये, सब हल हो जाती हैं। परन्तु करे हम सच्चे मनमे तीन लोकके नाथका पूजन, दर्शन, स्तुति, वन्दनादि। जब भगवान्की भक्तिमे, स्तुतिमे लीन हो जाता है यह मन, तब यह ध्यान नही रहता कि भगवान् क्या है और मै क्या हूँ। उस समय तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान्से मैं साक्षात् बातचीत ही कर रहा हूँ। इसी भावुकतामें आकर भक्त भगवान्को अपने सभी दुख सुनाना शुरू कर देता है और कहता है कि भगवन् इन दुखोको दूर करनेकी सामर्थ्य आपमें ही तो है। मैं क्यों भटकू आपको छोडकर इधर–उधर ? अर्थात् आपकी अनुपम मूर्तिको देखकर पुरुषार्थ स्वाभाविक जाग उठता है।

भक्तिमें शक्ति—कवि धनञ्जय

भक्तिकी शक्ति बढ़ी, निज गुण दे प्रगटाय।
लौकिक की तो बात क्या, शिव सुख दे दर्शाय ॥

महाकवि धनञ्जय एक दिन मन्दिरजीमे भगवान् जिनेन्द्रका पूजन कर रहे थे। करते भी क्यो नही ? वे श्रावक थे और पूजा करना श्रावकका सर्व-प्रथम कर्त्तव्य है। उसी समय उनके इकलौते, लाडले-पुत्रको एक महान् विषैले भुजङ्ग (सर्प) ने काट लिया, तत्काल नौकरने पुत्रकी मांको आवाज लगाते हुए कहा—जल्दी आओ माताजी। आपके पुत्रको सांपने काट लिया। इतना सुनते ही छोड दिया सब काम-काज और दौडी जल्दीसे अपने लाडले पुत्रको देखने। पुत्रके सारे अङ्गमे जहर फैला देखा। माताका हृदय कांप उठा और नौकरसे कहा—जल्दीसे सेठजीको लाओ बुलाकर, मन्दिरजीमे पूजन कर रहे हैं।

सेवक जाता है दौड़ता हुआ मन्दिरजीमे और तेजीसे आवाज लगाकर

बोलता है धनञ्जय कविसे कि जल्दीसे चलिये, आपके पुत्रको विषधरने डस लिया है, परन्तु कविराज तो भगवान्की भक्तिमे लीन थे, उन्होंने नौकरकी ओर नजर उठाकर भी नही झांका। वह विचारा वापिस लौट आया। कविराजकी धर्मपत्नीने फिरसे भेजा, परन्तु वहाँ सुनता कौन? कविराज तो लीन थे भगवान्के पूजनमे, भक्तिमे, उनके गुणगानमे।

सेवक फिरसे लौट आया घरकी ओर, और उदास होकर कहने लगा कि वे किसीकी नही सुनते, अपनी धुनमें मस्त हैं। इतना सुनते ही स्वाभाविक था कविराजकी पत्नीको गुस्सा आना। उसने रोषमे आके उठाया अपने लाड़ले को और मन्दिरजीमे जाके जहाँ कविराज भगवानके पूजनमे लीन थे उसी जगह उनके चरणोमे पटक दिया बालकको और कई खरी-खोटी सुनाने लगी। मन्दिरमे पूजन करनेवाले करीब-करीब सभी पूजक व दर्शनार्थी एकत्र हो गये, परन्तु अभी तक कविके दिलपर इस बातका कोई असर नही था। कुछ ही समय पश्चात् कविराजका ध्यान बदला तो देखा कि उनका इकलौता पुत्र बेहोश पड़ा है उनके चरणोमे। महाकवि धनञ्जयने उसी समय विषापहार-स्तोत्रकी रचना की और स्तवन करते हुए भगवान्से इस प्रकार कहने लगे—

विषापहारं मणिमौषधानि, मन्त्रंसमुद्दिश्य रसायनं च।
भ्राम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरन्ति, पर्यायनामानि तवैव तानि ॥

अर्थात्—शरीरका विष उतारनेके लिए लोग मणि, औषधि, मन्त्र-तन्त्र को ढूँढनेमे दौडते फिरते हैं, उनको यह नही मालूम कि ये सब आपके ही दूसरे नाम हैं अर्थात् विष उतारनेवाले तो सभी कुछ औषधि आप हो तो हैं भगवन्!

उनकी पवित्र भावना—भक्ति का यह प्रभाव हुआ कि कविराजका इकलौता पुत्र इस तरहसे उठ खडा हुआ, मानो सोतेसे जाग उठा हो। धनञ्जय फिर भी भगवान्की स्तुतिमे लीन रहे और विषापहार स्तोत्रके १६ पद्योंकी रचना फिर भी की। पूजन-विसर्जन कर फिर सानन्द पुत्र, पत्नीको साथ लेकर घर आये।

आचार्य मानतुङ्ग

एक समय श्री आचार्य मानतुङ्गजीके साथ भी ऐसी ही एक घटना घटी थी। जब राजाने पण्डितोंके बहकावेमें आकर उनकी परीक्षा लेने हेतु शक्ति देखनेके लिए आचार्यश्रीको बन्दीघर (जेल) मे बन्द कर दिया था, उस समय सनातनधर्मका चमत्कार दिखानेके लिए भगवान्की भक्ति करते हुए एक महा प्रभावशाली भक्तामर स्तोत्रकी रचनाकी। और ४६ वे पद्यमे भगवान्से वे इस प्रकार कहने लगे—

आपादकण्ठमुरुशृङ्खल–वेष्टिताङ्गाः,
गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजङ्घाः।
त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः,
सद्यः स्वयं विगतबन्ध-भयाः भवन्ति ॥४६॥

अर्थात्—कोई मनुष्य पैरसे लेकर गर्दन तक जञ्जीरोंमे बँधा, जकड़ा बन्दीगृहमे पड़ा हो, कठोर लोहेकी बेड़ियोसे उस अधोरकी जाघे छिल गयी हों, किन्तु यदि वह आपके पवित्र नामका हृदय (मन) से स्मरण करे तो उ के समस्त बन्धन क्षणभरमे ही स्वय टूटकर गिर जाते हैं।

भक्तामरके इस श्लोकको बोलते ही समस्त बन्धन–ताले स्वत· ही टूट–कर पृथ्वीपर आ पड़े और आचार्यश्री उसी समय बाहर आ खड़े हुए।

वादिराज मुनि

इसी प्रकार वादिराज मुनिके शरीरको कोढरोगने वेष्टित कर लिया था। एक समय राजसभामे राजाके ब्राह्मण मन्त्रीने एक जैन सभासद्की मजाक उड़ाते हुए राजासे कहा इसके गुरु कोढ़ी हैं।

यह बात आचार्य वादिराजके भक्तको बहुत बुरी लगी और भावुकताके वश कह बैठा कि नही, कौन कहता है—मेरे गुरु कोढ़ी हैं, उनकी काया तो स्वर्णके समान दीप्तिमान् है। राजाने दोनोंको शान्ति देते हुए कहा कि अच्छा, कल सबेरे तुम्हारे गुरुके दर्शनार्थ चलेंगे, तब अपने आप मालूम हो जायेगा कि कौन सत्य बोलता है और कौन झूठ?

राजाके मुखमे ऐसे वचन सुनकर कि कल चलेंगे दर्शन करने, जैन सभासद् बड़ा चिन्तित हुआ। विचारने लगा कि अब क्या करना चाहिए? मेरे गुरुजी तो वास्तवमे कोढ़ी हैं। उसी समय विपिनमे जाता है वादिराज मुनिके पास और जाकर चरणोमे गिर जाता है, रोने लगता है, व्याकुल हो रहा है। मुनिराजने कहा—आज क्या आपत्ति आ गयी तुम्हारे ऊपर? जैन सभासद् बोला—स्वामिन्! आज मेरी लाज आपके हाथमे है, मैंने राजासे प्रमादवश यह कह दिया है कि मेरे गुरुकी काया निर्मल है उन्हे कोई रोग नही है। अब मेरी लाज आपके हाथमे है, अगर आपकी काया रोगरहित नही हुई तो मेरा जीना कठिन ही है। मुनिराजने आशीर्वाद देते हुए कहा—कोई बात की चिन्ता मत करो, जाओ अपने घर आनन्दसे।

उसी दिन, रात्रिके समय आचार्य वादिराजने भगवान्की भक्तिमें लीन होकर एकीभाव स्तोत्रकी रचना की। भक्तिमे तन्मय होकर चतुर्थ पद्यमें इस प्रकार कहने लगे—

प्रागेवेह त्रिदिवभवनादेष्यता भव्य-पुण्यात्,
पृथ्वीचक्रं कनकमयतां देव निन्ये त्वयेदम् ।
ध्यानद्वारं मम रुचिकरं, स्वान्तगेहं प्रविष्टः,
तत्कि चित्रं जिनवपुरिदं यत्सुवर्णीकरोषि ॥४॥

अर्थात्—हे जिनेन्द्र, निर्मल मूर्ति ! जब आपने अन्तिम जन्म लिया तब माताके उदरमे आनेसे पूर्व ही, आपके प्रभावसे यह पृथ्वीमण्डल सुनहरा, रत्न-वर्षासे पवित्र, सुन्दर हो गया था, यदि ध्यानके द्वारा मैं आपको अपने हृदयमे बिठा लूं तो क्या यह मेरा शरीर सुनहरा नही हो जायेगा ? अवश्य हो जाना चाहिये ।

इस श्लोकको बोलते ही आचार्य वादिराजका कोढ क्षणभरमे ही दूर हो गया, काया स्वर्णके समान पवित्र, सुन्दर बन गयी । समस्त प्रजाके साथ प्रातः राजा मुनिदर्शन करने आया, देखा तो उनके शरीरमे किसी प्रकारकी कोई व्याधि नही थी । तब राजा अपने मन्त्रीपर कुपित हुआ और सभासद्को सत्य-वादी जान उसपर प्रसन्न हुआ ।

इस तरह जब भगवान्‌की भक्तिमें लीन हो जाता है श्रावक अथवा साधु, तो भूल जाता है सिद्धान्तको; क्योकि भक्तिके समय भगवान्मे अनुराग प्रधान होता है, सिद्धान्त नही । अनुरागके बिना भक्तिभाव, पूजन, स्तवन, विनय गुणचिन्तन नही बन पाते । इसलिए सच्चे देवका पूजन, भक्ति, उनके गुणोका चिन्तन, मनन हमको प्रत्येक दिन करना चाहिये, क्योकि भक्तिके बिना मुक्ति भी नही मिलती । 'वन्दे तद्गुणलब्धये' इस सूत्रसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव मे उनके गुणोकी प्राप्तिके लिए ही उनकी वन्दना, अर्चना, भक्तिकी जाती है । जिनेन्द्रपूजन-भक्तिके विषयमे कई आचार्योंने भी अनेक प्रकारसे लिखा है ।

जिनवर भक्ती जो करे, मन वच तन कर लीन ।
इस भवमें दुख ना लहै, ना भव धरे नवीन ॥

भगवान्से प्रार्थना

प्रज्ञापारमितः स एव भगवान् ! पारं स एव श्रुत-
स्कन्धाब्धेर्गुणरत्नभूषण इति श्लाघ्यः स एव ध्रुवम् ।
नीयन्ते जिन ! येन कर्णहृदयालंकारतां त्वद्गुणाः,
संसाराहिविषापहार-मणयस्त्रैलोक्यचूडामणेः ॥७॥ (जिनचतु०)

भावार्थ—हे त्रैलोक्य तिलक ! यह बात सत्य है कि संसाररूपी सर्पके

विषको दूर करनेके लिये मणिके समान आपके गुणोको अपने कानोंसे जिसने सुना है, और हृदयमे धारण किया है, वही मनुष्य इस जगत्में महाविद्वान् है, वही शास्त्ररूपी सिन्धुको अनायास ही तरनेवाला है, वही गुणरत्नोसे विभूषित है, वही प्रशसनीय है।

इसी प्रकार आचार्य समन्तभद्रस्वामीने स्तुति-विद्या नामक ग्रन्थमे कहा है-

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते,
हस्तावञ्जलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि सम्प्रेक्षते।
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरो नतिपरं सेवेदृशी येन ते,
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृतिस्तेनैव तेजः पतेः!॥

भावार्थ—हे तेजपुज अधिपति! मै आपकी श्रद्धामे डूबा रहूँ, आपका अर्चनमात्र याद रहे, शेष सभी बाते मे भूल जाऊँ, मेरे कर अंजलिबद्ध होकर आपके समक्ष मेरी अकिंचन भक्तिका नैवेद्य लिये रहे, कानोसे आपकी पवित्र कथा सदैव सुनाई देती रहे, और आखे त्राटक सिद्ध होकर अनिमेषवृत्तिसे आपके दर्शनका लाभ लेती रहे. हे देव! मुझमे किसी प्रकारका व्यसन न हो, अगर हो तो आपकी स्तुति करनेका, भक्ति करनेका व्यसन रहे एव यह मस्तक आपके चरणोमे सदैव झुकता रहे, ये मेरी सभी भावनाये चरितार्थ हों, मैं आपके प्रताप से तेजस्वी, सुजन और पुण्यवान् हूँ।

इसी प्रकार महान् आचार्य श्रीकुन्दकुन्द अपने रयणसार ग्रन्थमे लिखते हैं-

पूयाफलेण तिलोए सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो।
दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं॥१४॥

अर्थात्—जो मनुष्य शुद्धभावोसे श्रद्धापूर्वक भगवान् जिनेन्द्रका पूजन करता है वह पूजनके फलसे त्रिलोकके अधीश तथा देवताओ व इन्द्रसे भी पूज्य हो जाता है और जो सुपात्रमे चार प्रकारका दान देता है वह दानके फलसे त्रिलोकमे सारभूत उत्तम सुखोको भोगता है।

श्रीसमन्तभद्राचार्यने भी अपने रत्नकरण्ड-श्रावकाचारमे इस प्रकार लिखा है—

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनि, परिचिनुयादादृतो नित्यम्॥११९॥

भावार्थ - भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजासे इच्छित फलोकी प्राप्ति और दुःखोका नाश होता है इसलिए अपना हित चाहनेवाले श्रावकोको भक्तिपूर्वक भावनासे भगवान्की पूजा अवश्य करनी चाहिये।

आचार्य शिरोमणि श्रीकुन्दकुन्द स्वामीने अपने अष्टपाहुडग्रन्थके बोध-पाहुडमें इस प्रकार लिखा है—

सो देवो जो अत्थं धम्मं कामं सुदेइ णाणं च।

सो देई जस्स अत्थि दु अत्थो धम्मो य पव्वज्जा ॥

विशेषार्थ—अर्थ—निधि, रत्न आदि धनको कहते हैं। धर्मका लक्षण चारित्र, दया, वस्तुस्वभाव, आत्मोपलब्धि अथवा उत्तम क्षमा आदि है। कामका अर्थ अर्धमाण्डलिक, माण्डलिक—महामाण्डलिक, बलभद्र, नारायण, चक्रवर्ती, इन्द्र, धरणेन्द्र और तीर्थंकरके भोग हैं। ज्ञानका अर्थ केवलज्ञानरूप ज्योति है। जो इन अर्थ, धर्म आदिको देता है वह देव है। जिस मनुष्यके पास जो वस्तु होती है उसे ही वह देता है। अविद्यमान वस्तुको देनेके लिए कोई कैसे समर्थ हो सकता है? इस तरह यह सिद्ध हुआ कि जिसके पास अर्थ-धन है वह अर्थ-धन देता है, जिसके पास प्रवज्या-दीक्षा हैं वह केवलज्ञानकी प्राप्तिमे कारण-भूत दीक्षाको देता है और जिसके पास सब सुख है वह सब सुख प्रदान करता है। जैसा कि गुणभद्राचार्यने कहा है—**सर्वःप्रेप्सात** ।

अर्थात् समस्त प्राणी शीघ्र ही समीचीन सुख प्राप्तिकी इच्छा करते हैं, सुखको प्राप्ति समस्त कर्मोंके क्षयसे होतो है, समस्तकर्मोंका क्षय सद्वृत्त-सम्यक्चारित्रसे होता है। सद्वृत्त-सम्यक्चारित्र ज्ञानके आधीन है, ज्ञान आगमसे होता है, आगम श्रुतिसे होता है, श्रुति आप्तसे होती है। आप्त (भगवान्) समस्त दोषोसे रहित होते हैं और दोष रागादिभाव हैं। अतः सत्पुरुषोकी लक्ष्मीके लिए युक्तिपूर्वक विचार कर सर्वसुखदायी उस आप्त (भगवान् जिनेन्द्र) की उपासना सदैव करते रहे।

श्रीमद्वादीभसिंह सूरि विरचित क्षत्र-चूडामणिके मंगलाचरणमें इस प्रकार लिखा है—

श्रीपतिर्भगवान्पुष्याद्, भक्तानां वः समीहितम्।

यद्भक्तिः शुल्कतामेति, मुक्ति-कन्याकरग्रहे ॥१॥

भावार्थ—जिस प्रकार किसी कन्याके साथ विवाह करनेमें पैसा सहायक होता है, ठीक उसी प्रकार जिन भगवान्‌की भक्ति, मुक्तिरूपी कन्याको प्राप्त करनेमे सहायक होती है। और भी कहा है—

जन्मजीर्णाटवीमध्ये, जनुषान्धस्य मे सती।

सन्मार्गे भगवद्भक्ति र्भवतान्मुक्तिदायिनी ॥६॥३४॥ क्ष.चू.

भावार्थ—जैसे किसी विशाल भयभीत जंगलमें मार्गभ्रष्ट किसी जन्मान्ध पुरुषको किसी प्रकार यथार्थ राह मिल जावे, तो वह अभीष्ट स्थान पर पहुँचकर बहुत सन्तुष्ट होता है, उसी प्रकार हे भगवन् ! मैं भी सन्मार्गको भूलकर अनादिकालसे इस दुःखद सागरमे भटक रहा हूँ। अब आपसे यही प्रार्थना है कि आपके प्रसादसे मुझे वह समीचीन भक्ति प्राप्त हो, जिससे मैं मोक्ष-मार्गपे प्रवृत्त होकर परम्परया मुक्तिको प्राप्त कर सकूं। और भी अनेक आचार्योंने पूजन-भक्तिके सम्बन्धमें अनेक शास्त्रोंमें लिखा है।

भव वनमें भूले फिरें, मारग मिले न कोय।
जो जिनवरकी शरण ले, सहज मुक्ति-पथ होय ॥२०॥

गुरु उपासित द्वितीय आवश्यक कर्म

उन गुरुवरके चरणमें नमन अनन्ते बार।
मुक्ती पथ दर्शायके भवसे करते पार ॥२१॥

समस्त परिग्रह-रहित निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि तथा ऐलक, क्षुल्लक, आर्यिकादि, व्रती, त्यागियोंका विनयके साथ उपदेश सुनना, उनकी सेवा-शुश्रूषा करना, उनकी आवश्यकतानुसार उनको कमण्डलु पीछी, शास्त्रादि उपकरण देना, विधिपूर्वक नवधा भक्तिसे शुद्ध भोजन कराना, आदि गुरु-उपासना कहलाती है।

गुरु किसे कहते हैं ?

गुरुशब्दका साधारण अर्थ है जो अन्धकारकी ओरसे प्रकाशकी ओर लाये। गुरुशब्दकी निरुक्तिमें कहा गया है कि "गु" शब्द अन्धकारपरक है और "रु" शब्द उसका निवर्तक है। इस प्रकार अज्ञानान्धकारका निवारण करनेसे ही 'गुरु' शब्दकी साभिप्राय निष्पत्ति होती है। यही बात इस श्लोकमें कही है ×

'गु'शब्दस्त्वन्धकारे च 'रु'शब्दस्तन्निवर्तकः।
अन्धकारविनाशित्वाद् 'गुरु'रित्यभिधीयते ॥

जो संसाररूपी विकट वनमे सम्यक्त्वरूपी आंखोसे रहित भोले प्राणियों को सम्यग्ज्ञानचक्षु प्रदानकर मुक्तिपथकी ओर प्रेरित करता है वही सच्चा गुरु है। गुरु सर्वप्रथम अपने अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट कर देता है, और ससार-शरीर-भोगोसे विरक्त होकर कर देता है शुरू चलना मुक्तिपथकी ओर।

गुरुकी विशेषता

समस्त संग (परिग्रह) से रहित होकर तेरह प्रकारका चारित्र अपनाते

हुए गुरु वनों एवं गुफाओंमें रहते हैं। उनके अट्ठाईस मूलगुण होते हैं। वे शीत-ऋतुमे नदियोंके तटपर ध्यान-लीन रहते हैं, ग्रीष्मऋतुमे पर्वतोंकी शिखापर तपस्या करते हैं और वर्षाकालमे वृक्षोंके नीचे बैठकर ध्यान करते हैं। वे क्रोधादि कषायों को अपने नजदीक भी नहीं आने देते हैं, उनके अन्दर किसी प्रकारका मद नहीं होता और मनमें किसी प्रकारकी इच्छायें जाग्रत नही होती। द्वादश प्रकारके तपोमे वे सदैव रत रहते हैं, और द्वादश अनुप्रेक्षाओका शाश्वत चिन्तन करते रहते हैं। दो-दो, चार-चार अथवा अपनी शक्ति अनुसार उपवासके बाद श्रावकके घर आहार लेनेको जाते हैं। आहार शरीरको पुष्ट करनेके लिए नहीं लेते, मात्र क्षुधाशान्तिके लिए थोड़ासा लेते हैं। आहार लेते समय किसी प्रकार-का अन्तराय आ जाय तो खेद नही करते, खुशी अवश्य मनाते हैं। रात्रिको कम से कम सोते हैं। अधिक समय ध्यान और स्वाध्यायमे ही बिताते हैं, उन्हे किसी प्रकारका भय नही होता, क्योंकि भयके साधनोसे वे परे हैं। ऐसा ही वैराग्य-शतकमे भर्तृहरिने लिखा है—

> धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिरं गेहिनी,
> सत्यं मित्रमिदं दया च भगिनी भ्राता मनः संयमः।
> शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनं,
> ह्येते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे, कस्माद्भयं योगिनः॥

जिसके पिता धैर्य, माता क्षमा, शाश्वत साथ निभानेवाली शान्तिरूपी स्त्री, सत्यरूपी मित्र, दया भगिनी, भाई मन संयम, पृथ्वीमडल शय्या, वस्त्र दिशायें और भोजन ज्ञानका अमृतके तुल्य रसास्वाद है, हे मित्र! कहो तो भला जिस योगी—'गुरु' के ये सब कुटुम्ब हैं उसको किससे भय हो सकता है अर्थात् किसीसे नहीं।

सच्चे गुरुका स्वरूप

अनेको आचार्योंने शास्त्रोमें सच्चे गुरुओकी व्याख्या बडी अच्छी तरहसे की है। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमे गुरुका स्वरूप इस प्रकार बताया है—

> विषयाशावशातीतो, निरारम्भोऽपरिग्रहः।
> ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते ॥१०॥

भावार्थ—जो पांचो इन्द्रियोके विषयोकी लालसारहित, समस्त प्रकारके आरम्भ तथा बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहके त्यागी और ज्ञान-ध्यान तथा तपमे शाश्वत लीन रहते है, वह सच्चे गुरु (सुगुरु) कहलाते हैं।

आचार्य यशःकीर्तिजीने अपने प्रबोधसारमे लिखा है—

सर्वसत्त्वहिताः शान्ता स्वदेहेऽपि निस्पृहाः ।
यततो ब्रह्मतत्त्वस्था यथार्थ-प्रतिपादिनः ॥१३॥
सर्व-सावद्यसम्पन्नाः संसारारम्भवर्तिनः ।
सलोभाः समदाः सेर्ष्या समानः यतयो न ते ॥१४॥

जो महामुनि सब प्राणियोके हितकर, शान्त, अपने शरीरके ममत्वत्यागी, आत्मतत्त्वमे लीन और यथार्थतत्त्व अर्थात् वस्तु स्वभावका कथन करनेवाले हो, वही सद्‌गुरु हैं और उनसे विपरीत जो पापयुक्त, सासारिक आरम्भ करनेवाले लोभी, मदसहित, ईर्ष्या और मान करनेवाले है वे सद्‌गुरुओकी कोटिमे नही गिने जा सकते, अर्थात् वह कुगुरु ही हैं। और भी कहा है—

श्रेष्ठो गुणैर्गृहस्थः स्यात्ततः श्रेष्ठवरो यतिः ।
यतेः श्रेष्ठतरो देवः न देवादधिकं परम् ॥

(यशस्तिलक आ० ६)

गृहस्थ गुणोके कारण श्रेष्ठ कहलाता है और उससे श्रेष्ठ यति (मुनिराज) हैं। तथा मुनिराजसे भी श्रेष्ठ वीतराग सर्वज्ञदेव हैं। यहाँ तात्पर्य है कि गुरुको गुणोके कारणसे ही श्रेष्ठ कहा गया है और अधिक गुण गृहस्थकी अपेक्षा उनमे इसलिए माने जाते हैं कि वे त्यागवृत्ति अर्थात् परको त्यागकर अपने आत्म-चिंतन मे गृहस्थसे अधिक है। यदि उनमे भी आरम्भादिक देखा जाये तो वह मुनि भी गृहस्थसे अधिक प्रशमनीय नही हो सकते। अतएव आरम्भी परिग्रही साधुओको सद्‌गुरु नही कहा जा सकता वे तो कुगुरु ही हैं।

आचार्य अमितगतिजीने भी सच्चे गुरुका स्वरूप इस प्रकार लिखा है—

ज्ञानचारित्रयुक्तो यः गुरुर्धर्मोपदेशकः ।
निर्लोभो तारको भव्यान् स सेव्यः स्वहितैषिणा ॥

जो मुनिराज, महासाधु, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्रसे युक्त धर्मके उपदेशक, लोभरहित तथा भव्य पुरुषोके तारक तथा स्वय भी ससारसागरसे तिरनेवाले हो वे ही सेवनीय हैं अर्थात् गुरु हैं।

जो गुण मण्डित बुद्ध हैं, रतनत्रयसे शुद्ध ।
ऐसे मम गुरुवर महा, ध्यान करें अविरुद्ध ॥२२॥

गुरु-प्रशंसा

गुरुप्रशसा करते हुए आचार्य शुभचन्द्रजीने ज्ञानार्णवमें इस प्रकार कहा है—

अथ निर्णीततत्त्वार्थाः धन्याः संविग्नमानसाः ।
कीर्त्यन्ते यमिनो जन्मसंभूतसुखनिःस्पृहाः ।।१।।
भावभ्रमण-निर्विण्णाः भावशुद्धि समाश्रिताः ।
सन्ति केचिच्च भूपृष्ठे योगिनः पुण्यचेष्टिताः ।।२।।

जो संयमी मुनि तत्त्वार्थका यथार्थ स्वरूप जानते हैं, मनमें सवेगरूप हैं, मोक्ष तथा उसके मार्गमे अनुरागी हैं और ससार जनित सुखोमे निःस्पृह-वांछा-रहित हैं वे मुनि धन्य एव प्रशंसनीय हैं। और ऐसे ससारके भ्रमणसे निर्वेदको प्राप्त हुए, भावशुद्धिसे सम्पन्न, इस पृथ्वीतल पर कुछ ही पुण्यशाली योगी साधु हैं।

इनके सम्बन्धमे पचम सर्गमें और भी कहा है—

विन्ध्याद्रिर्नगरं गुहा वसतिका शय्या शिला पार्थिवी,
दीपाश्चन्द्रकराः मृगाः सहचरा मैत्री कुलीनाङ्गनाः ।
विज्ञानं सलिलं तपः सदशनं येषां प्रशान्तात्मनां,
धन्यास्ते भवपङ्कनिर्गमपथ-प्रोद्देशकाः सन्तु न ।।२१।।

जिन प्रशान्तात्मा महामुनियोका विन्ध्याचल पर्वत नगर है, पर्वतकी गुफाये वसतिका (गृह) हैं, पर्वतकी शिला शय्या समान हैं, चन्द्रमाकी किरणें दीपकके समान है, मृग सहचर (साथी) हैं, सर्व भूतो (जीवो) पर मैत्री कुलीन स्त्री है, विज्ञान पीनेका जल है, तप ही उनका उत्तम भोजन है, वे ही सद्‌गुरु धन्य हैं। ऐसे महाऋषिराज हमको संसाररूपी कर्दमसे निकालनेका उपदेश देनेवाले हो।

दुःप्रज्ञाबल-लुप्त-वस्तु-निचयाः विज्ञान-शून्याशयाः,
विद्यन्ते प्रतिमन्दिरं निजनिजस्वार्थोद्यता देहिनः ।
आनन्दामृत-सिन्धुशीकरचयैर्निर्वाप्य जन्मज्वरं,
ये मुक्तेर्वदनेन्दु-वीक्षणपरास्ते सन्ति द्वित्राः यदि ।।२४।।

कुबुद्धिबलसे वस्तुसमूहको लोप करनेवाले (नास्तिक), सत्यार्थ ज्ञानसे शून्य चित्त वाले तथा अपने विषयादिकके प्रयोजनमे उद्यमी, ऐसे प्राणी तो घर-घरमे विद्यमान हैं, परन्तु आनन्दरूप अमृतके समुद्रके कणसमूहसे संसार रूप ज्वालाके दाहको-अग्निको बुझाकर मुक्तिरूपी स्त्रीके मुखरूपी चन्द्रमाके विलोकन मे तत्पर हैं ऐसे गुरु अगर अभी हैं तो दो-तीन ही होगे।

निष्पन्दीकृतचित्तचण्डविहगाः पंचाक्षकक्षान्तकाः,
ध्यानध्वान्तसमस्तकल्मषविषा विद्याम्बुधेः पारगाः ।
लीलोन्मूलितकर्मकन्दनिचयाः कारुण्य-पुण्याशयाः,
योगीन्द्राः भवभीम-दैत्यदलनाः कुर्वन्तु ते निर्वृतिम् ।।२।।

जिन्होने चिन्तारूपी प्रचण्ड पक्षीको निश्चल कर दिया है, पञ्चेन्द्रियरूपी वनको जला दिया है, ध्यानके द्वारा समस्त पापोका नाश कर दिया है और विद्यारूपी समुद्रके पारगामी हैं, तथा क्रीडामात्रमे कर्मोको मूल-जडसे उखाडने वाले हैं, करुणाभावरूप पुण्यसे पवित्र चित्तवाले हैं एव संसाररूप भयानक दैत्यको चूर्ण करनेवाले हैं वे योगीन्द्र भव्य प्राणियोको मुक्तिके दाता होवे। और भी कहा है—

आत्मन्यात्मप्रचारे कृतसकलबहिः-संगसंगन्यासवीर्या-,
दन्तःज्योतिप्रकाशाद्विलयगतमहामोहनिद्रातिरेकः ।
निर्णीते स्वस्वरूपे स्फुरति जगदिदं यस्य शून्यं जड़ वा,
तस्य श्रीबोधवार्धेर्विशतु तव शिवं पादपङ्केरुहश्रीः ॥२८॥

जिन मुनियोका आत्मामें अपना प्रवर्तन है, परद्रव्यमे नही, बाह्य परिग्रह त्यागसे तथा अन्तरंग विज्ञानज्योतिके प्रकाश होनेसे जिनके महामोहरूप निद्राका उत्कर्ष नष्ट हो गया है और जिनको स्वरूपका निश्चय होनेसे संसार शून्यवत् व जडवत् लगने लगा है, ऐसे ज्ञानसमुद्र महामुनिराजके चरणकमलकी लक्ष्मी मोक्षपद प्रदान करें।

और भी सुभाषितरत्नसंदोहमे इस प्रकार कहा है—

न कुर्वते कलिलविवर्धनक्रियाः,
सर्वोद्यताः शमदमसंयमादिषु ।
रता न ये निखिलजनक्रियाविधौ,
भवन्तु ते मम हृदये कृतास्पदाः ॥६८॥
न रागिणीः स्वजनदोषदूषिता,
न मोहिनो भवभय-भेदनोद्यताः ।
गृहीत सम्यग्ज्ञानचारित्रदृष्टयो,
भवन्तु मे मनसि मुदे तपोधनाः ॥६८४॥

जो मुनिराज पापवर्धक क्रियाएँ नहीं करते, शम-शान्ति दम-इन्द्रियोंका दमन और संयम-प्राणिसंयम तथा इन्द्रियसंयममें तत्पर हैं और सांसारिक कृषि, वाणिज्य आदि व्यापार एवं क्रियाओंसे दूर रहते हैं, वे मुनिराज हमारे हृदयमें विराजमान रहें।

सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयके पालक, सांसारिक दुखोंके नाशक, इष्ट वस्तुमें राग रहित, अनिष्ट वस्तुमे द्वेष रहित तथा मोह और अज्ञानसे दूर, ऐसे तपस्वी जन हमारे मनमें हर्ष उत्पन्न करें।

इसलिए कोई शरीरावस्थासे ज्येष्ठ होनेपर भी 'गुरु' नहीं हो सकता।

गुणोंकी उत्कृष्टता ही गुरुत्वकी साक्षी है। इसी आधार पर स्थविरत्व, पूज्यत्व पदकी प्राप्ति होती है। कहा है—

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥

अर्थात्—किसीके शिरके बाल श्वेत हो गये हों इसीसे उसे वृद्ध–गुरु नहीं कहा जा सकता। यदि कोई शरीर-वयसे युवा भी है किन्तु स्वाध्यायशील है, ज्ञानवृद्ध है और आचरणवान है तो उसे ही देव स्थविर 'गुरु' कहते हैं।

नमस्कार क्यों ?

गुरुका पद उस उगते हुए सूर्यसे भी बढ़कर है जो आते ही अन्धकारको नष्ट कर देता है। सूर्य तो आता है तब अंधकार भाग जाता है और अस्त होते ही अपना स्थान फिरसे ग्रहण कर लेता है। सुगुरु जब अज्ञानरूपी अन्धकारको हटाकर हृदयमें ज्ञानदीप जला देते हैं तो फिर वह कभी बुझता नहीं। इसलिए चिर उपकृत शिष्य निम्न शब्दोंमे गुरुके प्रति अपनी विनीत श्रद्धांजलि अर्पित करता है—

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः॥ (कातंत्र व्या०)

भावार्थ—जिस गुरुके द्वारा अज्ञानरूपी अन्धकारसे व्याप्त लोगोंकी आँखोंको, ज्ञानरूपी अञ्जनके द्वारा खोल दिया गया है ऐसे गुरुको नमस्कार हो। और भी कहा है—

साधुं नमामि दुरितं ननु संहरामि,
साधुं स्मरामि सुगतिं परिवर्द्धयामि।
साधुं महामि भवतामधिकं जहामि,
साधुं धरामि हृदये शिवतां श्रयामि॥

मुनिराज का स्मरण मैं सद्गतिकी प्राप्तिके लिए करता हूँ, मुनिराज पूजन मैं भव—समुद्रसे पार होनेके लिए करता हूँ, मुनिराजके गुणोको मै अपने हृदयमे मुक्ति प्राप्तिके लिए धारण करता हूँ, परमोपकारी गुरुदेवको नमस्कार जन्म-जन्मान्तर के पापोको क्षय करनेको करता हूँ।

भेंट—इन परोपकारी, दया, शील धारी, निजगुणके पुजारी, अनगारी परम गुरुदेवको खाली हाथ नमस्कार नही करना चाहिए, कुछ न कुछ फलादि चरणकमलोमे समर्पित करके ही नमस्कार करना चाहिए। नीतिकारोंने कहा भी है—

रिक्तपाणिर्नैव पश्येद् राजानं देवतां गुरुम्।
नैमित्तिकं विशेषेण फलेन फलमादिशेत्॥१२॥ (सम्यक्त्वकौमुदी)

राजा, देवता, निमित्तज्ञानी तथा विशेषरूप से तरण-तारण गुरुओं का दर्शन खाली हाथ नही करना चाहिए, क्योकि फलकी प्राप्ति फलसे ही होती है। नमस्कार करने के पश्चात् इस प्रकार अपने भाव प्रगट करें —

अद्याभवत्सफलता नयनद्वयस्य देव ! त्वदीयचरणाम्बुज.वीक्षणेन ।

अद्य त्रिलोकतिलक ! प्रतिभासते मे संसारवारिधिरयं चुलुकप्रमाणः ॥

हे परम गुरुदेव, आज आपके चरणकमलो का दर्शन करने से मेरे दोनो नेत्र सफल हो गये, और हे तीन लोक के तिलक ! आज मुझे यह ससार-सागर चुल्लु प्रमाण जान पडता है, अर्थात् आपके दर्शन करनेसे मुझे अपूर्व शान्ति का अनुभव हो रहा है, मानों पापोसे तो मैं मुक्त ही हो गया हूं। हे स्वामिन् ! आपके चरणो की छायामे से मन, घर आनेको भी नही करता, परन्तु बधनमे जकड़ा हुआ हू, इस गृहबन्धन से छुड़ाने मे आप ही समर्थ हैं।

गुरु उपकार

गुरु महाराजका हमारे ऊपर कितना असीम उपकार है हमारे जीवनका आरम्भ शिक्षा-दीक्षा द्वारा गुरुचरणो की उपासनासे ही सफलताकी ओर अग्रसर होता है। प्राणी को कृत्याकृत्यविवेक गुरु के सानिध्य मे ही प्राप्त होता है। गुरु का स्नेह और फटकार दोनो ही अशेष कामनाओ के पूरक तथा योग्यता के दाता हैं। जिस प्रकार सूपसे धानके तुष को फटक कर अलग कर दिया जाता है उसी प्रकार गुरुकी फटकार से शिष्य के समस्त दोष अलग हो जाते हैं। गुरु संसारकी उत्ताल-आन्दोलित समुद्राभ विषयवासना-कषायबहुल तरगो से कुशल नाविक के समान बचाता हुआ उस पार (भवपार) पहुचा देता है, अन्यथा अज्ञान की शिला पर बैठा मनुज डूब जाता है। गुरु ही ज्ञान का चिन्तामणि रत्न शिष्य को प्रदान करता है, जिसके प्रकाशमें वह पथ-अपथ को पहचान कर अपना स्वपरविवेक प्रशस्त करता है। गुरुदेव की आराधना के बिना प्राप्त ज्ञान सन्दिग्ध होता है, उसे 'इदमित्थम्' को निश्चयवाक्यतामें आबद्ध नही किया जा सकता। कोई भी नेत्रवान गुरुका उल्लघन नही करता। गुरुके प्रति भक्ति उससे अधिगत आगम-विद्याका विनीत कृतज्ञता-ज्ञापन है, आभारो का आनृण्य है, विनम्र अञ्जलि है। मिट्टीके ढेले को उठाकर, कुम्भकार के समान, रत्नत्रयवर्तिकासे जगमग मणि-दीप बना देने वाले सच्चे गुरुकी कृपाओ से कभी उऋण नही हुआ जा सकता, इतना अधिक है उपकार उनका। अतः हमारे हृदय मे गुरुभक्ति के बादल प्रति-क्षण उमड़ते रहें, उनकी विनय और आज्ञा पर पूर्ण दृष्टि रहे।

गुरु-भेद

आचार्य कुन्दकुन्द ने अष्टपाहुड के दर्शनपाहुड मे गुरुओके तीन ही लिंग बताये हैं—

एक्कं जिणस्स रूवं बीयं उक्किट्ठ सावयाण तु ।
अवरट्ठियाण-तइयं चउत्थं पुण लिंगदंसणं णत्थि ॥१८॥

अर्थात्—जिनशासन मे सर्वप्रथम पूज्य लिंग जिनेन्द्र भगवान् का स्वरूप अर्थात् दिगम्बर मुनि, द्वितीय उत्कृष्ट श्रावको (ऐलक और क्षुल्लको) का, तृतीय आर्यिकाओंका इस प्रकार तीन ही गुरु बताये हैं, चौथा नहीं।

उत्कृष्ट गुरु समस्त संगके त्यागी महामुनिराज हैं, उनके भी तीन भेद हैं। प्रथम–आचार्य, द्वितीय–उपाध्याय, तृतीय–साधु। शास्त्रोमे आचार्योंका लक्षण निरूपण करते हुए कहा गया है—

पंचधाचरन्त्याचारं शिष्यानाचारयन्ति च।
सर्वशास्त्रविदो धीरास्तेऽत्राचार्याः प्रकीर्तिताः ॥

अर्थात्—जो पांचों आचारोका स्वय पालन करते हैं, तथा शिष्योको कराते हैं, और जो सम्पूर्ण शास्त्रो के परिनिष्ठित विद्वान् हैं, धीर हैं उन्हे आचार्य कहते हैं सम्यक्त्वपूर्वक अट्ठाईस मूलगुणोको धारण करवाने वाले, मन्त्रदीक्षा प्रदान करने वाले और सम्यक्चारित्र पथपर नियोजित कर स्वर्गापवर्गके क्षितिज चूलाकुगेको अगनमे दीप्त करने मे सौविध्य प्रदान करने वाले आचार्य नित्य भव्यजनोके कल्याणकारी हैं, ऐसे अन्तर्बाह्य ग्रन्थि रहित आचार्योंको नमस्कार हो।

दिशन्ति द्वादशांगानि शास्त्रं लाभादिवर्जिताः।
स्वयं शुद्धव्रतोपेता उपाध्यायास्तु ते मताः ॥

जो किसी प्रकारका नाम न चाहते हुए केवल लोकको शास्त्रमें प्रवृत करनेकी पवित्र भावनासे द्वादशाग शास्त्रोका अध्यापन करवाते है और स्वयं शुद्धव्रतोका पालन करते है, उन्हे उपाध्याय कहते हैं।

ये व्याख्यान्ति न शास्त्रं न ददाति दीक्षादिकं च शिष्याणाम्।
कर्मोन्मूलनशक्ता ध्यानरतास्तेऽत्र साधवो ज्ञेयाः ॥

[नाममालाटीका]

साधु वे हैं, जो न तो शिष्योंको शास्त्र पढ़ाते हैं, और न दीक्षा प्रदान करते हैं, वे निरन्त ध्यानावस्थित होकर कर्मोंके उन्मूलनमे समर्थ होते हैं और इस प्रकार अपने वास्तविक अर्थमे 'साधू' पदको अलकृत करते हैं।

उत्कृष्ट श्रावकोका द्वितीय नाम है ऐलक और क्षुल्लक। आगममे दोनों का ही क्षुल्लक, लघुनन्दन तथा युवराज नाम बताया है। इनके ही दो भेद हैं, एक मात्र कोपीन रखते है, दूसरे कोपीनके साथ एक अखण्ड अर्थात् बिना सिला हुआ वस्त्र और भी रखते हैं। जो मात्र कोपीन (लगोटी) रखते हैं उन्हे

आजकल ऐलक (एक वस्त्रवाले) के नाम से पुकारा जाता है और जो कोपीन के साथ एक कोमल लघु चद्दरा भी रखते हैं उन्हे क्षुल्लक (मुनि से छोटे) के नामसे पुकारा जाता है।

आर्यिकाजी मात्र पीछी, कमण्डलु के साथ एक सोलह हाथकी साड़ी पहनती हैं और उपचार से उनको महाव्रती माना है।

क्षुल्लिकाजी साड़ीके अलावा एक चद्दर और रखती हैं। ऐलक, क्षुल्लक, और क्षुल्लिका की प्रतिमायें ग्यारह होती हैं।

गुरु-तीर्थ

साधुओं के दर्शनका कथन करते हुए किसीने लिखा है —

साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः।
कालेन फलते तीर्थं सद्यः साधुसमागमः॥

साधुओं के दर्शनमात्र से पुण्यबन्ध होता है क्योंकि साधु तीर्थ के समान होते हैं। तीर्थ तो समय आने पर फल देते हैं किन्तु गुरुओ की संगति से तुरन्त शुभ फल प्राप्त होते है।

ये साधु गुणोंके पुञ्ज होते हैं। किसी के प्रति राग द्वेष नहीं करते। पत्थर मारने पर भी फल देने वाले वृक्ष के समान सद्व्यवहार करने वाले ये दुर्जनों के प्रति भी क्षमा, करुणा और उदारभाव रखते हैं। जेसे चन्दन-पादप कुठार द्वारा छेदे जाने पर सुगन्धित ही करता है, उसी प्रकार ये साधु दुर्वचन बोलने वाले को भी सद्भावना से कृतार्थ करते हैं। महाकवि बाणने सज्जन-दुर्जन के स्वभाव का निरूपण करते हुए लिखा है-

कटु क्वणन्तो मलदायकाः खलास्तुदन्त्यलं बन्धनशृङ्खला इव।
मनस्तु साधुध्वनिभिः पदे पदे हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव॥

अर्थात्—निरन्तर मल उत्पन्न करने वाले खल अर्थात् दुष्टजन लोहे की बेड़ियों के समान कटुवचन बोलते हैं जो शरीर मे चुभते हैं, पीड़ा देते है। किन्तु मधुर, गम्भीर, साधु-ध्वनिसे पद-पद पर ये सन्तजन मणिनूपुरो की तरह सभीके मनको हरण करते है, प्रसन्न करते हैं।

साधु के इसी स्पृहणीयभाव से सम्पूर्ण लोक उनकी ओर आकर्षित होता है- उनकी सत्संगति और अमृतवाणी के लिए लालायित रहता है। किसीने ठीक ही कहा है—

चंदनं शीतलं लोके चन्दनादपि चन्द्रमाः।
चन्द्र-चन्दनयोर्मध्ये शीतलः साधु-संगमः॥

निस्सन्देह लोक में चन्दन शीतल है, और चन्द्रमा तो शीतरश्मि होने से उससे भी अधिक शीतल है। किन्तु जो चन्दन तथा चन्द्रमा से भी अधिक शीतल है, वह साधुकी सगति ही है, क्यो क वह केवल मात्र शीतल करने वाले चन्दन और चन्द्रके समान बाह्य सुखदायिना ही नही है अपितु अन्तरात्मा तर्क पवित्र भावो की शीतलता पहुचाकर कल्याणकारिणी होती है। अतएव नीतिकार बारम्बार इस प्रकार कहते हैं कि—

परिचरितव्याः स तो यद्यपि नोपदिशन्ति ते।

तेषां स्वैरकथालापा उपदेशा भवन्ति हि ॥

सदैव सन्तोकी सेवा करनी चाहिए भले ही वे उपदेश न देते हों, फिरभी शरीर मात्रसे वाणी के बिना ही मोक्षमार्ग का निरूपण करते हैं, उनकी यदृच्छा शब्दावली मे भी ज्ञान-बहुल उपदेश ही निकलता है। भला गन्ना मिठास के अतिरिक्त दे ही क्या सकता है? पुष्पके पास सुगन्धि के अलावा और है क्या? सूखे वृक्षोको हरा-भरा कर देना ही बसन्तका नित्यधर्म है। सन्तजन प्रकृति से ही उद्विग्न-गज के अंकुश होते है, आकुलता से तपते हुओके लिए शीतल जलवर्षी मेघ होते है।

किन्तु इस प्रकारके महाप्रभावी साधुओका साक्षात्कार एवं उनकी पुण्य-संगति सभी को सर्वत्र नही मिल सकती। विशेष पुण्य का उदय ही साधुदर्शनका निमित्त कारण होता है। कहा भी है—

शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे।

साधवो न हि सर्वत्र चन्दनं न वने वने ॥

प्रत्येक पर्वत पर माणिक्य नही होते, प्रत्येक गज से गजमुक्ता भी नहीं मिलते, प्रत्येक वनमें चन्दन के वृक्ष नही होते और गुरु भी सर्वत्र नही मिलते।

गुरु कीजे जानके

गुरु बिन निज पर ज्ञान ना, गुरु बिन सुख न लहाय।

सन्मति गुरु लखि कीजिये, तो ना भव भरमाय ॥

हमे अपने जीवनका उत्थान एव विकास करना है तो एक ऐसे कुशल वैद्य अर्थात् गुरु की आवश्यकता है जो कि हमारे (जन्म-मरणरूपी) रोग की जड़ को निकालकर स्वास्थ्य प्रदान करे। हमे जाना है मुक्तिपथ की ओर, परन्तु एक मार्गदर्शक गुरुकी आवश्यकता है, क्योंकि बिना गुरुके ज्ञानदीप नही जलता, ज्ञानदीप के बिना मुक्तिपथ दिखना कठिन है। जिस किसी को भी गुरु बनालें, तो न मालूम वह हमे कहा ले जायेगा अथवा मध्य मे ही छोड़ देगा। फिर हमारी हालत उस धोबी के कुत्तेसे कम न होगी जो रास्ते मे रह गया, घर का

रहा न घाटका। गुरु हमें सत्पथकी ओर ले जानेवाला है, अतः उनको (भली प्रकार जान) अपने आदर्शके अनुकूल देखकर बनाना चाहिए। लोकमे भी कहावत है कि—गुरु कीजे जानके, पानी पीजे छानके। क्योंकि तनिक भी असावधानी होनेपर सारा जीवन मिट्टीमे मिल जायेगा। नाममात्रके गुरु स्वयं भी डूबते हैं और उनका आलम्बन लेने वालोको भी डुबोते हैं क्योंकि वह पत्थरके समान जलतारक गुणोसे रहित होते हैं।

पण्डित दौलतरामजीने अपने छहढाला ग्रन्थमें कुगुरुका वर्णन करते हुए लिखा है कि—

अन्तर रागादिक धरें जेह, बाहर धन अम्बरतें सनेह।
धारें कुलिंग लहि महत भाव, तें कुगुरु जन्म-जल-उपल नाव॥

जो अपने मनमे धनिक लोगोके प्रति प्रेम रखते हैं, स्तुतिकारोकी स्तुतियोसे प्रसन्न हो जाता है मन जिनका, जो शाश्वत धनके संचयकी भावना अपने हृदयमे रखते हैं।

जिनको बातकी बातमे क्रोध आता है, जिनका वस्त्राभूषणोंसे राग नहीं छूटा है, परिग्रह संचय करनेका जिनका स्वभाव है, जो अपने शरीरको सुन्दर बनानेमे लगे रहते है, जो सादा भोजनमे अरुचि रख, मिश्री-मावा, मेवा, लाडू, पूडी आदि मधुर रस कलित पौष्टिक भोजनोके प्रति लालसा रखते हैं, जिनकी आंखे सदैव सुन्दररूपको देखनेके लिए लालायित रहती हैं, जो शृङ्गारात्मक रागवर्धक कथाओंमें आनन्द लेते हैं, तथा-अपनी प्रशसा सुन आनन्दित और निन्दा होनेपर क्रुद्ध हो उठते हैं, जो लोकरञ्जनाके अर्थ तप, ध्यान, स्वाध्याय करते हैं तथा भाषण देते हैं, जिनका मन एकान्तमे ध्यान, स्वाध्यायमे नही लगता, विकथाओमे लीन रहते हैं, जिन्हें चलने, फिरने, उठने, बैठने, बोलने आहारादि क्रियाओका ज्ञान नही होता है, जो ख्यातिलाभके लिए मन्त्रतन्त्रादकी सिद्धिकर लोगोको देते हैं, जो अपने मनको छल-कपट मायाचारसे युक्त रखते हैं, अनेक दोषोसे जो सदैव दूषित रहते हैं वे तो स्वय वीतरागतासे परे हैं, इसलिए वे दूसरोको क्या दे सकेंगे? कुछ भी नही। इसलिए सुखके इच्छुक भव्यजीवोंको ऐसे गुरुओका आलम्बन नही लेना चाहिए। नही तो किसीने कहा है कि—

लोभी गुरु, लालची चेला, होय नरकमें ठेलम ठेला।

मात्र भेषधारी या विषयासक्त कुगुरुओको हमे अपना गुरु स्वीकार नहीं करना है, कारण उनकी दीक्षा जगत्के अन्दर उदरपूर्तिके लिए ही होती है, स्वपरकल्याणके लिए नही। कहा भी है—

मद-मदन-कषायारातयो नोपशान्ता,
न च विषयविरक्तिर्जन्मदुःखान्न भीतः।
न तनुसुखविरागो विद्यते यस्य जन्तो-
र्भवति जगति दीक्षा तस्य भुक्त्यै न मुक्त्यै ॥

जिनके अभिमान, काम-क्रोधादि कषाय आदि शत्रु शान्त नही हुए हैं, जिनकी इन्द्रियजन्य विषय-भोगों से विरक्ति नहीं हुई है, जो जन्ममरणादि के दुःखमे भयभीत नही हैं, शरीर सम्बन्धी सुख से अभी जिन्हे वैराग्य नही हुआ है ऐसे प्रणियोकी दीक्षा संसार मे मात्र उदरपूर्ति के लिए ही है, मुक्तप्राप्ति के लिए नही। ऐसे अर्थात् विषयो में लगे हुए गुरुका तो हमे दूरसे ही त्याग कर देना है।

इन समस्त दोषों से रहित जो सच्चे अनेकान्तवादी हैं वही गुरु हैं। जैसे दिनकर के रहते हुए अन्धकार नही रह सकता उसी प्रकार गुरु के रहते हुए देश मे अधर्म, अन्याय, अनैतिकता, उत्पीड़न, अधन्याचरण और जघन्य विचार तथा पाप नही आ सकता। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के प्रतीक वे महान् गुरु देश के कोन-कोने मे विहार कर भव्य जीवो को उपदेशामृतपान कराते रहते हैं। वही सच्चे गुरु है। ऐसे महात्यागी, महाप्रभावी, तपस्वी, कल्याण भवन के मणि-स्तम्भ, मोक्षमार्ग के नेता, परमयोगी गुरुओ की नित्य भक्ति, सेवा, वन्दना, करते रहना। यही कहलाती है गुरु-उपासना।

आज भी सच्चे गुरु हैं क्या ?

कुछ लोगोंका कहना है कि आजकल सच्चे गुरुओंका अभाव है। पर यह उनका मात्र एक भ्रम है कि आजकल सच्चे गुरु नही हैं कभी अपने जीवन में सच्चे गुरु की खोज करने वे निकले ही नही। अगर निकलते तो पा जाते कही न कही सच्चे गुरु, उन्हे। सच्चे गुरु की खोज के लिए अगर हमारी दृष्टि निर्मल है तो खोजते रहे एक दिन पा जायेगे सद्गुरुदर्शन। अगर हमारी भावना दूषित है, अपवित्र है, गुणो से शून्य हैं, तो सच्चे गुरु की खोज करना कठिन ही है, क्योकि लोक कहावत है– 'चोर के लिए सब चोर ही चोर।' जब हम स्वयं ही दूषित हैं, अपवित्र हैं, गुणरहित हैं, तो दूसरो में भी हमे मात्र दूषण ही नजर आयेगे, गुणहीन ही प्रतीत होगे, अशुचिता ही दिखाई देगी।

मेरी मान्यता

आजसे कुछ दिन पूर्व तक मेरी स्वतः की यह मान्यता थी कि आजकल सच्चे गुरुओका अभाव है, क्योंकि मैं लोगोसे उनकी त्रुटिया, अनेक गलतिया सुनता रहता था। कानो सुनी बातको ही मानकर मैने गुरुओ की ओर से मोड लिया

था अपनेको, परन्तु मनमें कभी-कभी यह भावना जागृत होती रहती थी कि कुछ दिन मुनियोंके साथ रहकर अनुभव किया जाय कि यह बात सत्य है क्या ? कानो सुनी बात तो झूठ भी हो सकती है, किसी कारणवश भी सुनाई जा सकती है।

नही किया लोगोकी बातका विश्वास मैंने और ता० ६-६-१६७१ ईस्वी को चल पड़ा गुरुपरीक्षाके लिए, आत्म-कल्याण हेतु। काफी समय पर्यन्त कई जगह जाकर देखा उन परम दिगम्बर मुनियोको जो अट्ठाईस मूलगुणोका पालन करतेहै। कुछ समय साथमे रहकर उनकी देखी दिनचर्या,की उनमे बातचीत सभी प्रकारकी, तो मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि यह मानना हमारा बिलकुल गलत है, कि आज सच्चे मुनि हैं ही नही, और यह भी मानना गलत ही होगा कि आज-कल जितने साधुके बानेमें हैं वे सच्चे है। जो सच्चे हैं उन्हे सच्चे मानकर अपना हितपथ खोजना है, और जो सच्चे नही हैं, उनकी ओरसे अपने आपको मोड़ लेना है। आज भी सच्चे गुरु विद्यमान हैं।

कालदोष

आचार्योंने कहा है कि मुनि पंचम कालके अन्त समय तक पाये जायेंगे। परन्तु कालदोषके कारण संहनन हीन होगा; इसलिये मोक्ष प्राप्त नही कर सकते। यहांसे तपस्या करके भी उन्हे स्वर्गादि सदगतियोकी प्राप्ति ही होगी, और वहांसे आकर जो निकट भव्य है वे मोक्ष प्राप्त करेंगे।

इसका आशय यह नही है कि अपनी मनमानी चर्या करने लग जाये। कोई कहे कि ऐसा नही करना चाहिए मुनियोको, तो धड़ाके के साथ बोल उठे कि पंचम काल है। पंचमकालका अर्थ यह नही है कि मनमानी करे, बही-खाते साथ रखे, परिग्रह साथ रखे, पैसा एकत्रित करें। यह अवश्य है कि कालदोषके कारण मुनि जगलमे नही रह सकते, शक्तिहीन होनेके कारण पर्वतोके शिखर पर ग्रीष्म ऋतुमे ध्यान नही कर सकते। आजके दिगम्बर मुनि ग्राम और शहरोकी धर्मशाला और मन्दिरोमे रहकर आज भी घोर तपस्या करते हैं। बाईस परीषहो-को सहते है, द्वादश प्रकारके तप तपते हैं, तेरह प्रकारके चारित्र का पालन सम्यग्दर्शन-ज्ञानके साथ करते हैं। दो-दो महीनोके उपवास करनेवाले तो अभी भी देखे जा रहे हैं। एक महीने का उपवास हमारे गुरुजीने भी किया है और आचार्य निर्मलसागरजीके परम शिष्य श्री मुनि चारित्रसागरजीने इस भादवेके पूरे महीने के अन्दर एक भी बार पानी नही लिया, देखा परम ज्ञानी, परम तपस्वी आचार्य विद्यासागरजी महाराजको जो साक्षात् वैराग्यमूर्ति हैं, ३६ घंटे, २४ घंटे एकासनसे ध्यान-साधना मे लीन बने रहते हैं।

और भी ऐसे अनेक साधु हैं जो ध्यान-अध्ययनमें ही रत रहते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि सच्चे मार्ग दर्शक गुरु जहाँ-तहाँ आज भी विचरण कर रहे हैं।

दो सच्ची घटना

कुछ दिन पूर्व मुरेनामें एक मुनिराज आये हुए थे। सायंकालकी सामायिक करनेके लिए मुनिराज शीतकालमे भी खुले मैदानमे ईंटोके ऊपर रक्खी हुई एक पाषाणशिला पर विराजमान थे। श्री मुनिराजजी सामायिकमें लीन हो गये। कुछ समयके पश्चात् वहाँ एक कोई भोला श्रावक आया। उसने विचार किया कि मुनि महाराजको सरदी लगती होगी। उसी समय घरसे लाके एक कोयलेकी दहकती हुई सिगड़ी उस पटियाके नीचे रख दी जिसके ऊपर मुनिराज ध्यानारूढ़ थे। कुछ समयके बाद दहकती हुई सिगडीसे पटिया लाल सुर्ख़ हो गयी, परन्तु मुनिराज अपने ध्यानसे विचलित नही हुए। उसी पत्थरके ऊपर जलते रहे।

इसी प्रकार आरामे एक घटना घटी थी। एक कमरेके अन्दर दो मुनिराज सामायिकके लिए विराजमान थे। मौसम सरदी का था। इसलिये कमरेमें कुछ घास भी पडा था। न जाने कैसे वहाँ जलती हुई लालटेनसे घासमे आग लग गई। मुनिराज ध्यानमे लीन थे। अग्निने उनके शरीरको जलाना शुरुकर दिया, परन्तु मुनिराज ध्यानमे विचलित न हुए। पासके कमरेमे ही एक क्षुल्लक जी थे, उन्होने उठते हुए धुयेंको देखा और उसी समय आकर देखा तो मुनिराजोके शरीरोको आग जला रही है उठाकर बाहर लाये, परन्तु अग्नि मुनि महाराज को डिगा न सकी। अगर वे सच्चे मुनि नही होते तो कौन देखता था वहाँ? अग्नि लगते ही बाहर निकल आते। महान् विद्वान् त्यागी कई हुए हैं, और वर्तमानमे भी है, हम उनके नजदीक जाकर देखे तो मालूम होगा उनके साधुत्वका। अपनेमे गुण ग्रहणके भाव आ जाये तो मिल सकते है सच्चे गुरु आज भी।

चतुर्थकाल जैसे गुरु क्यों नहीं ?

आजकल चतुर्थकाल जैसे गुरु क्यो नही देखनेमें आते, इसका मूल कारण हम ही है। पचमकालके प्रारम्भमे भी श्रावक अपने धर्मका पूर्णतया पालन करते थे, तो उस समय मुनि भी अपने चारित्रका पालन पूर्णतया करते थे। आज श्रावकोंने अपना धर्म छोड दिया, पथ भ्रष्ट होते जा रहे हैं। उस हालतमे गुरुओकी स्थिति क्या पूर्ण सत्य रह सकती है? कभी नही। आज मुनियोंको जो आहार दिया जा रहा है, कभी हमने यह विचार किया कि कैसे पैसेका आहार दे रहे हैं? कही चोरी, अन्याय, बेईमानीसे तो कमाया हुआ पैसा

नही है। अगर हमारा आहार-पानी मुनिके पेटमें शुद्ध नही जाता तो मुनि शुद्ध होते हुए भी अपने भावों को शुद्ध नही रख सकते। किसी ने कहा है—

जैसा खाओ अन्न, वैसा होवे मन्न। जैसा पीओ पानी, वैसी बोले बानी।

एक मुनिराज को किसी ने चोरी से लाये हुए धान्य का आहार दे दिया था, तो वे उसी के घर से खूटी पर टगे हुए स्वर्णहार को ले जगल मे चले गये। जब आहार का असर कम हुआ, उस समय मुनिराज को आकुलता हुई और अपने गुरु से कहा, मैंने तो आज चोरी करली। गुरुजीने उसी समय श्रावकको बुलाकर मालूम किया तो धान्य चोरी का था। इससे यह स्पष्ट हुआ कि पुद्गल का पुद्गल पर और भावों का भावों पर असर अवश्य पडता है। इस बातका निर्णय हम स्वत: कर सकते हैं कि हमारे भाव व द्रव्य आज कितने पवित्र हैं। जितने हमारे भाव और द्रव्य पवित्र होगे, उतने ही मुनियो के होगे, क्योकि जैसा बीज होगा, फल भी वैसा ही प्राप्त होगा।

गुरु उपासक

करना चाहते हैं अगर गुरु-उपासना तो अपनी दृष्टिको मोड़ लें गुरुओं की ओर। आज भी सच्चे गुरुओसे भरी पड़ी है भारतभूमि। जिन गुरुओकी कर दोगे भक्ति शुरू, तो जो कुछ भी उनमें दोष नजर आते हैं वे भाग जायेगे। गुरु-भक्ति मे लीन हो जायेगा यह मन, यह तन, तो मिथ्या-भ्रान्ति भाग उठेगी। हो जायेगा उजाला सम्यग्ज्ञानरूपी दीपका गुरुके आलम्बन से। जिस प्रकार प्रत्येक दिन अ. . शरीर को रक्षा करनेके लिए, इससे काम लेनेके लिए, कुछ भोजनादि पदार्थों की आवश्यकता है, ठीक उसी प्रकार हमे अपनी आत्म जागृति के लिए एक सच्चे मार्ग-दर्शक ज्ञानी गुरुकी आवश्यकता है, क्योकि जिस प्रकार कुलाल कच्ची मिट्टी का घड़ा बनाके तैयार कर देता हैं; उसी प्रकार अज्ञानी-मूर्ख मनुष्य को गुरु ज्ञानी बनाकर मोक्षमार्ग पर लगा देता है। इसलिए हम बताए गये गुरु के सच्चे उपासक लगा ले गुरुभक्ति सच्चे मन से अपने हृदयमे, तभी कहलायेंगे सच्चे उपासक।

गुरुभक्त्या वयं सार्द्धद्वीपद्वितयवर्तिनः।
वन्दामहे त्रिसङ्ख्योन-नवकोटिमुनीश्वरान् ।। (कातंत्र)

हम सब गुरुभक्तिमें लीन होकर षष्ठम गुणस्थानसे लेकर चतुर्दश गुण-स्थान पर्यन्त तीन कम नवकोटि मुनिराजाओको मन, वचन, कर्मसे नमस्कार करते हैं।

गुरुभक्ति जगमें बड़ो, सब सुख कारण जाण।
पाप नशे गुण अनुभवें, अन्तिम पद निर्वाण ।।२४।।

तृतीय आवश्यक कर्म : स्वाध्याय

भविजनको सुख होत है, करनेसे स्वाध्याय।
इसका ही बरणन यहाँ, सरस्वतीको ध्याय ॥

श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहे हुए और गणधरोंके द्वारा गुथे व समझाये हुए तथा आचार्योंके द्वारा लिखे हुए, ऐसे सद्‌शास्त्रोंका पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना, पूछना व बताना, चिन्तवन व मनन करना, चर्चा करना, स्वाध्याय नामक तृतीय आवश्यक कर्म है।

स्वाध्याय क्यों ?

आज यत्र-तत्र भटकते हुए कही भी ऐसी आशाकी किरण दिखाई नहीं देती, जिसका आलम्बन लेकर हम अपनी संकल्प-विकल्प, आशा-तृष्णा, राग-द्वेष, चिन्ता व व्यग्रतारूपी निशाचरोसे रक्षा कर सकें। कुछ समयके लिए अपने को अशान्त वातावरणसे बचाकर शान्तिके लिए हमने देवका आश्रय लिया था, परन्तु उनकी भक्तिमे यह चचल मन कब तक लीन रह सकता है ? भगवान् मुख से भी तो नही बोलते। अगर बोलते होते, तो फिर किसी अन्य आलम्बनकी आवश्यकता नही थी। मात्र उनकी मुखाकृतिको देखकर सदैव चित्तको नहीं रोका जा सकता। इतना अवश्य हो सकता है कि उनकी वीतराग सौम्य मुद्राको देखकर कुछ समयके लिए आनन्द-सागरमें स्नान किया जा सकता है। अगर निरन्तर अभ्यास करते रहें, तो हमेशाके लिए आनन्द-सागरमे मग्न हो जायेंगे।

व्याकुलताओंके ऊपर विजय प्राप्त करनेके लिए हमने आदर्श गुरुका आलम्बन किया था। उनका स्पर्श करते ही अर्थात् उपदेश सुनते ही व राग-द्वेष रहित मुद्राको देखते ही ऐसा प्रतीत होने लगा मानो भव-भवके पापोसे हम मुक्त ही हो गये हो। परन्तु गुरु-उपदेश तो कभी-कभी मिलता है, क्योंकि वह किसी एक स्थान पर तो ठहरते नहीं, आज यहां तो कल वहां। अगर घर छोड़कर गुरुओंके साथ रहा जाय तो यह भी सम्भव नहीं, क्योंकि गुरुओंके साथ रहनेका अवसर प्राप्त होना किसी मामूली पुण्यके हाथकी बात नही है। गुरुके एक दो दिनके सुने हुए उपदेशका कबतक मनन किया जा सकता है और स्मृतिज्ञान भी कम होता जा रहा है। हमारे लिए तो कुछ ऐसा सहारा चाहिए, जिससे हमें प्रत्येक दिन मार्ग-दर्शन होता रहे, निज-गुणोकी याद दिलाता रहे।

देखो उन परम गुरुओंका उपकार, जिन्होंने हमारे लिए भगवान् जिनेन्द्रके

द्वारा कहे हुए सिद्धान्त व वस्तु-स्वभाव धर्मको शास्त्रोंमे लिख दिया— और लिख दिया उन्होने हमारे जीवनका आदिसे अन्त तकका पूरा इतिहास। जो सूक्ष्म-सूक्ष्म तत्त्व उन्होने अपने समाधिगत चित्तमे अनुभव किये वे लिख दिये, जिनको पढकर हम अपने मनको अधिक-से-अधिक समय तक उनके चिंतन व मननमे लीन रख सकते हैं। कर्त्तव्य व अकर्त्तव्यका विवेक उत्पन्न करके निषिद्ध कर्मोंसे बच सकें, हिताहितका ज्ञान कर सके, घर बैठे समस्त सृष्टिका अवलोकन कर सकें। उन गुरुओंके द्वारा रचे शास्त्रोको पढ़कर ही तो देवकी आकृतिपरसे भी कुछ जीवनमे अपना सकते है, क्योकि नमूना यद्यपि बहुत कुछ अपना रूप दिखाता है, परन्तु फिरभी अपना बनानेका उपाय नहीं बता सकता। उसके लिए तो उसके प्रयोगको जाननेकी अपेक्षा होती है, जिसको जान व पढकर नमूनेके अनुसार माल तैयार किया जा सकता है। बस इस कमीकी पूर्णता कर दी परम दयालु गुरुओंने। उन शास्त्रोको पढकर हम देवके अनुरूप अपना जीवन बना सकते हैं। गुरु प्रदत्त इस शास्त्रके प्राप्त होने से हमे प्रतीत होता है, कि मानो गुरुका नित्य सम्पर्क ही हमे प्राप्त हो गया है। शास्त्र पढते ही ऐसा मालूम होता है कि साक्षात् सामने गुरुदेव ही बैठे हुए हैं। इसलिए देव या गुरुके प्रति मनको प्रतिक्षण लगानेके लिए उनके द्वारा रचे हुए शास्त्रोका पठन-पाठन करना अत्यन्त अनिवार्य है।

स्वाध्याय बिना ज्ञान नहीं

> **स्वाध्याय बिन होत नहिं, निज-पर भेद-विज्ञान।**
> **जैसे मुनि पदके बिना, ना हो केवलज्ञान ॥२६॥**

स्वाध्यायके बिना हमें अपनी छिपी हुई शरीरके अन्दर आत्माका ज्ञान नही हो सकता। जैसे नेत्र रहित व्यक्ति सूर्यके दर्शन नही कर सकता, वैसे ही आगमचक्षुसे रहित मानव अपनी आत्माका दर्शन नही कर सकता। कहा भी है–

> **अनालोकं लोचनमिवाशास्त्रं मनः कियत् पश्येत् ॥१॥**
> **अनधीत-शास्त्रश्चक्षुष्मानपि पुमानन्धः ॥२॥**
> **अलोचनगोचरे ह्यर्थे शास्त्रं तृतीयं लोचनं पुरुषाणाम् ॥३॥**
> **किं नामान्धः पश्येत् ॥४॥** (नीतिवाक्यामृत)

जिस प्रकार बिना प्रकाश के अंधेरे मे जैसे नेत्रो द्वारा धरे हुए पदार्थोंका भी पूर्ण ज्ञान नही होता, उसी प्रकार बिना शास्त्रोके अनुभव किये कुछ भी सत्य कर्त्तव्य का ज्ञान नही होता ॥ ६ ॥

ज्ञाननेत्रका उद्घाटन शास्त्र-स्वाध्याय से ही होता है, बिना शास्त्र-ज्ञान के चक्षु होने पर भी मनुष्यो को नीतिकारो ने अन्धा कहा है।

जो पदार्थ चक्षु द्वारा प्रतीत नही होता उसे प्रकाशित करने के लिए शास्त्र ही समर्थ है। यह शास्त्रज्ञान मनुष्यो का तीसरा नेत्र है, क्योंकि शास्त्रज्ञान के बिना अन्धे पुरुषको क्या प्रतीत हो सकता है ? कुछ भी नही। और भी कहा है नीतिकारो ने—

"न ह्यज्ञानादन्यः पशुरस्ति"। (नीति वाक्यामृत)

शास्त्रज्ञान रहित मूर्ख मनुष्यको छोडकर उपचारसे कोई और पशु नहीं है अर्थात् जिस प्रकार पशु घास वगैरह खाकर केवल मलमूत्रादि क्षेपण करता है, किन्तु उसे धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका ज्ञान नही, उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य भी बिना ज्ञानके अभक्ष्य भक्षण कर मलमूत्रादि क्षेपण कर समय व्यतीत करता है, धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य- अकर्त्तव्यको नही समझता।

अत यदि हम चाहते हैं सुख और शान्ति, तो स्वाध्यायके बिना नही मिल सकती। इसलिये हमें आचार्योंके द्वारा रचे हुए ग्रन्थोंका स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

कैसे पढ़ें ?

इस बीच भंवरमें डगमगाती हुई नैय्याको पार लगाने वाली जिनवाणी माताकी गोदका आश्रय लेना ही इस निकृष्ट कालमे विकल्परूप निशाचरोसे बचनेका एक मात्र उपाय है। अत शास्त्रका पठन अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रकार कोई स्कूल, कालेजमे जावे और गुरुके आगे हाथ जोडकर आ जावें तो उससे कोई लाभ नही। इसी प्रकार शास्त्रोको भी दूरसे हाथ जोड लिए जाने मात्रसे हमारा अज्ञान नही नष्ट हो सकता। जिस प्रकार भौतिक-शास्त्र (Physics) के साहित्यको पढ़े बिना उसके आविष्कार व चमत्कारोका ज्ञान व विश्वास नही हो सकता, उसी प्रकार इसके साहित्यको पढे बिना इस विज्ञानका ज्ञान व इसके चमत्कारोपर विश्वास नही हो सकता। जिस प्रकार लेखकके लिए सभी विद्यायें पठनीय हैं, इसी प्रकार बुद्धिके विकासके लिए इस अध्यात्म-विद्याका सही पठन भी आवश्यक है। जिस प्रकार भौतिक विज्ञानके साहित्य को शब्दो मात्रमे स्मरण कर लेनेसे काम नही चलता उसके वाच्यभूत पदार्थका ज्ञान व प्रयोगकी अपेक्षा होती है, उसी प्रकार इनके शब्दोंको पढने, सुनने मात्रसे काम नही चलता, अपितु इसके वाच्यभूत पदार्थ के जीवनमे प्रयोगकी आवश्यकता होती है। जिस प्रकार भौतिक विद्याको विश्वासपूर्वक अपना कल्याणकारी मानकर चित्त लगाकर पढा व सुना जाता है, उसी प्रकार इसको भी श्रद्धापूर्वक अपने लिए उपकारी समझकर श्रवण व पठन करना चाहिए। जिस प्रकार धन कमानेमे सब कुछ भूल जाते हैं, उसी प्रकार इन शास्त्रोका

स्वाध्याय करते समय सब कुछ भूल जाये, याद रहे एकमात्र चेतना। तभी यह डगमगाती हुई नैय्या पार हो सकेगी। ज्ञान के बिना सुख मिलना कठिन है। सच्चा ज्ञान शास्त्र पढने व मनन करने से होता है।

ज्ञानकी महिमा

मुक्ति भी जिस ज्ञानके बिना नही मिलती उसे कैसे न प्राप्त किया जाये ? अवश्य किया जाय—चाहे कितनी भी कठिनाइयोका सामना क्यो न करना पडे, ससारमे भी ज्ञानके समान कोई सुखका देनेवाला नही। पंडित दौलतरामजीने अपने छहढाला ग्रन्थमे ज्ञानके विषयमे इस प्रकार कहा है—

ज्ञान समान न आन, जगतमें सुखको कारण।
इहि परमामृत जन्म-जरामृत रोग निवारण॥

ज्ञानसदृश ससारमे कुछ भी नही, अतएव वह सुखका मूलभूत कारण है और लोकमे यदि कुछ परम अमृत है तो वह ज्ञान ही है जो कि जन्म जरा व मृत्युको सदैवके लिए हटा सकता है। परन्तु ससारमे और तो समस्त वस्तुएँ सुलभतासे प्राप्तकी जा सकती है पर ज्ञान ही एक ऐसा है कि जिसे सही रूपसे प्राप्त करना किसी सामान्य पुण्यका काम नही। पं० भूधरदासजीने इसके विषय मे इस प्रकार कहा है अपनी बारह भावनाओ मे—

धन कन कञ्चन राज सुख, सबहि सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसारमें, एक जथारथ ज्ञान॥

इसी प्रकार अनेको आचार्यों व कवियोने भी सच्चे ज्ञानकी जगह-जगह प्रशंसा की है। कही कहीतो यह भी लिख दिया है कि मनुष्यके दोनो चक्षु होते हुए भी वह अन्धेके सदृश है अगर उसके तीसरी ज्ञानचक्षु नही है तो। ज्ञाननेत्र को खोलनेमे समर्थ है तो मात्र एक जिनवाणी माता।

परिजन धन कुछ न चले, मरण समयमें साथ।
ज्ञान अडिग निजकी निधि, भव-भव जावे साथ॥२७॥

जिनवाणी माता

आचार्योंने जिनवाणीको माता कहकर पुकारा है और उसे मुक्ति का कारण बताया है तथा उसकी भक्ति व स्तुति की है। जिस प्रकार माता अपने पुत्रको दूध पिलाकर बडा करती है, ठीक उसी प्रकार जिनवाणी माता भी ज्ञानामृतका पान कराकर अज्ञानरूपी अन्धकारको मेट, सच्चा मार्गदर्शन कराती है, इसलिए श्री आचार्य पद्मनन्दि अपने पचविंशतिका ग्रन्थके ७७९ वे श्लोकमें जिनवाणीको माताके रूपमे स्मरण करते हुए लिखते हैं—

विधाय मातः प्रथमं त्वदाश्रयं,
श्रयन्ति तन्मोक्षपदं महर्षयः ।
प्रदीपमाश्रित्य गृहे तमस्तते,
यदीप्सितं वस्तु लभते हि मानवः । ।७७६।।

अर्थात्—हे जिनवाणी माता ! महान् ऋषिगण पहले तेरा आश्रय लेकर ही मोक्षपदको प्राप्त करते हैं । जैसे कि अन्धेरे घरमें मनुष्य दीपकका आश्रय लेकर अभीष्ट वस्तुको पा लेता है । श्रीपद्मनन्दि आचार्य श्लोक ८०१ मे भी कहते है—

यथाविधानं त्वमनुस्मृता सती,
गुरूपदेशोयमवर्णभेवतः ।
न ताः श्रियस्तेन गुणा न यत्पदं
प्रयच्छसि प्राणभृतेव यच्छुभे ।।८०१।।

हे जिनवाणी माता ! तेरा यथाविधि मनन, पाठन, स्मरण करने पर ऐसी कोई सम्पदा नही, ऐसा कोई गुण नही, ऐसा कोई पद नही, जिसको तू प्रदान न करती हो । अर्थात् जिनवाणीके स्मरणसे स्वर्ग-मोक्षपद प्राप्त होते हैं । श्री कुन्दकुन्द आचार्यने नियमसार ग्रन्थकी "सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं" आदि ५३ वी गाथा द्वारा सम्यग्दर्शनके प्रकट होनेका बाहरी निमित्त कारण जिनवाणी को बतलाया है । प्रवचनसारमे भी वे इस प्रकार कहते हैं—

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खा दीहिं बुज्झदो णियमा ।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समाधिदव्वं ।।८६।।

जिनवाणीसे प्रत्यक्षादि प्रमाणो द्वारा पदार्थोको जानने वाले ज्ञानीके, नियमसे मोहका समूह क्षय हो जाता है, इस कारण जिनवाणी माताका अच्छी तरहसे अध्ययन व मनन करना चाहिए ।

ससारमे हमारा उपकार करने वाली है तो जिनवाणी माता ही है । माता अपने बच्चोंको गलत मार्गसे रोकती है, उसी प्रकार यह जीवनपथपर दीपक बन मार्गदर्शन कराती है । इस माताका किया हुआ उपकार कभी नहीं चुकाया जा सकता । सच्चे पथकी अगर खोज करना सही लक्ष्य है तो जिनवाणी माता को अपने हृदयरूपी मन्दिरमे विराजमान करें, विनयके साथ, भक्तिपूर्वक उसका मनन, चिन्तन करे, उसे ही स्वाध्याय कहते है । स्वाध्याय किये बिना अपना ज्ञान नही हो सकता, अपना ज्ञान हुए बिना हिताहितका विचार नहीं आ सकता, हिताहित विचारके बिना यह कार्य सही है, यह ज्ञान नही हो सकता । इसलिये हमे लौकिक समस्त कार्योंको छोड़कर स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए ।

जैसे माता पुत्रको, कर देती बलवान।
जिनवाणी जगमात है, अमर करे दे ज्ञान ॥२८॥

स्वाध्याय शब्दका अर्थ

स्वाध्यायके अर्थके सम्बन्धमें लोगोंके अनेक मतभेद हैं। कुछ लोगोंका कहना है कि पुस्तकोंका पढना स्वाध्याय कहलाता है। कुछका कहना है कि धार्मिक शास्त्रोंका पढ़ना-पढ़ाना स्वाध्याय कहलाता है। कुछ लोगोका कहना है कि आत्मनिरीक्षण करते हुये डायरी लिखना स्वाध्याय है। कई लोगोका मत है कि सिद्धान्त-ग्रन्थोका पढ़ना-पढ़ाना स्वाध्याय कहलाता है। लौकिक इतने अर्थोंका विवाद उस समय अपने आप समाप्त हो जाता है, जब मनुष्यके ज्ञानमें उसका सही अर्थ समा जाता है।

स्वाध्याय शब्दका विश्लेषण करनेवालों ने इसके दो प्रकारसे समाज किये हैं—**"स्वस्यात्मनोऽध्ययनम्"** अपनी आत्माका अध्ययन, आत्म-निरीक्षण। "स्वमध्ययनम्"—अपने आप अध्ययन अर्थात् मनन। दोनो प्रकारके विश्लेषणो में स्वका ही महत्व है।

वास्तवमें स्वाध्यायपदमें दो शब्द हैं—स्व+अध्याय। स्वसे अभिप्राय अपनी आत्माका है, और अध्यायसे आशय प्रकरण, परिच्छेद, पाठ आदिका है। अर्थात् स्वाध्याय शब्दका अर्थ हुआ—आत्माके अध्यायको पढना, आत्माके गुणो की खोजकर जीवनमे (अपनेमे) झांकना, कि आत्माके जो गुण हैं वे मुझमे हैं, या नही। नही, तो उसी समयसे अपनेको मोड लेना लोककी ओरसे आलोककी ओर, अवगुणोंसे गुणोकी ओर, बाह्यसे अन्तरङ्गकी ओर। तब होने लगेगा स्वानुभव अपने आप। हो जायेगी प्राप्ति आत्मगुणोकी, सही तरहसे कर लेंगे अपना पठन-पाठन और मनन। यही होगा सच्चा स्वाध्याय।

किसी विद्वान्ने भी कहा है—

Every man is a Volume if he knows to read it

प्रत्येक आदमी एक ग्रन्थ है, यदि वह उसे पढना जानता है। कहनेका आशय है, कि हमारे अन्दर ज्ञान छिपा है, जो कुछ ग्रन्थोमे विवेचन है वह इस अन्दर बैठे आत्माका ही तो है, जिसे भूलकर हम बाहर खोज रहे है। अगर अपनेको अपने (स्वका स्वाध्याय) मे खोजना प्रारम्भ कर देंगे, तो पा जायेंगे अपने आपको अपनेमे, यही होगा सच्चा स्वाध्याय।

स्वयं स्वयंको ध्यावना, सुहित करनके काज।
एही तो स्वाध्याय है, आगम कारण आज ॥२९॥

शास्त्र पढ़ना स्वाध्याय है क्या ?

अल्पबुद्धि होने से आज वह योग्यता हम लोगों में नहीं कि हर किसी कार्य को बिना किसी का आलम्बन लिए कर लें। इसलिए अपना स्वरूप जानने के लिए किसी योग्य अनुभवी का सहारा लेना भी स्वाध्याय कहलाता है। इसी आशय को लेकर देव गुरु को भी स्वाध्याय में निमित्त माना है और शास्त्रों में तो आत्मा का ही विवेचन किया गया है। उसको संसार से मुक्त बनाने का उपाय बताया गया है, इसलिए शास्त्रों का पढना भी स्वाध्याय कहलाता है। मात्र शास्त्रो को पढ़ लेना, कानो से सुन लेना, नमस्कार कर लेना ही स्वाध्याय नही है। स्वाध्याय तो तब ही कहा जा सकेगा जबकि शास्त्र को पढ़कर जो कुछ हित की बात प्राप्त हुई, उसे अपना लिया जाय और जो अहित की हो उसे उसी समय त्याग दिया जाय। यही है शास्त्र पढ़ने का आशय। इसलिए सद्गुरुओं के द्वारा रचे हुये शास्त्रो को पढना-पढाना स्वाध्याय कहा जाता है, क्योंकि उनके निमित्त से हमे आत्म गुणो की प्राप्ति होती है।

स्वाध्यायकाल

कुछ लोगो का कहना है कि जब हमारे पास समय हो उसी समय स्वाध्याय करना शुरू कर देना चाहिए, यही उसका समय है। परन्तु यह बात ठीक नही, क्योकि खेत में बीज समय पर डालने से फलदायी होता है, उसी प्रकार समय पर किया हुआ स्वाध्याय भी समय को (आत्मा को) प्राप्त कराने में समर्थ हो सकेगा। छोटी-मोटी पुस्तको का पठन-पाठन व आत्म-गुणों का चिन्तन तो हम हर समय कर सकते हैं, चाहे दिन हो अथवा रात, परन्तु सैद्धातिक ग्रन्थों का स्वाध्याय तो समय से ही करना चाहिए। अकाल मे स्वाध्याय करने का निषेध करते हुए आचार्य इन्द्रनन्दि ने नीतिसार में लिखा है—

> **सिद्धान्ते वाच्यमाने स्याद्यदि मेघस्य गर्जनम् ।**
> **विद्युतो दर्शनं चापि तदानध्ययनं मतम् ॥१०९॥**
> **भानोरुदयतो न डोद्विकं स्वाध्यायगोचरः ।**
> **ततो मुनिः प्रवर्तेत योग्यकृत्येषु नित्यशः ॥११०॥**

अर्थ—सिद्धान्त शास्त्र के पढते समय यदि बादल गर्जे अथवा बिजली चमके तो सिद्धान्त न पढ़ना। सूर्य उदय के दो घड़ी बाद स्वाध्याय करना और भी कार्यों मे मुनि प्रवृत्ति करे।

आचार्यों ने अकाल दिन-रात में चार समय बताया है, जो सामायिक का समय है उसेही अकाल समय कहते हैं। उस समय सिद्धान्तग्रथो का स्वाध्याय

नही करना चाहिए, क्योंकि लाभ हो ही नहीं सकता, आगम-निषिद्ध है इसलिये हानि अवश्य हो सकती है। इसलिए निजपथ को खोजने वाले भव्य जीवो को स्वाध्याय समय पर ही करना चाहिए। उसका मनन हर क्षण कर सकते हैं।

स्वाध्याय विनय के साथ

स्वाध्याय करते समय हमे यह ध्यान रखना होगा कि जिनवाणी का कही अविनय तो नहीं हो रहा है क्योकि जिससे हमे कुछ लेना है, उसी का अविनय करें तो घोर परिश्रम करने पर भी कुछ नही प्राप्त होगा। स्वाध्याय भी स्वकी खोज के लिए किया जाता है। अगर उसका विनय न किया तो, एक तो विनय गुण की हानि होगी और द्वितीय स्वाध्याय करने पर भी स्वका ज्ञान नही होगा। अगर होगा भी, तो मात्र शास्त्र-ज्ञान, शब्द-ज्ञान। आगम-ज्ञान होने से मात्र पण्डित बन सकते हैं, सुख तो आत्म-ज्ञान होने पर ही प्राप्त होगा, इसलिए शास्त्र-विनय के लिए स्वाध्याय से पूर्व एक चौकी पर साफ कपडा बिछाकर, उसके ऊपर शास्त्रजी को विराजमान कर नमस्कार करे। तत्पश्चात् मगल-मत्र बोलते हुए शास्त्र जी को खोलें और मङ्गलाचरण बोले। जितने समय स्वाध्याय करें उतने समय एक आसन मे बैठें और फालतू चर्चा न करें, न सुने। स्वाध्याय करने के पश्चात् शास्त्रजी को यथास्थान विराजमान करे व भक्तिपूर्वक नमस्कार कर किये हुए स्वाध्याय का मनन, चिन्तन करता रहे, आचरण मे लानेका प्रयत्न करे। यह सब कहलाती है शास्त्र-विनय। विनय के बिना विद्या नही आती, विद्या के बिना ज्ञान नही होता, ज्ञान के बिना मुक्ति-लक्ष्मी नही मिलती, मुक्ति-लक्ष्मी के बिना सुख नही मिलता। इसलिए धर्म सम्बन्धी समस्त कार्य विनय के साथ होने चाहिये, अगर सुख चाहते हैं तो।

स्वाध्याय के भेद

आचार्यों ने स्वाध्याय के पाँच भेद बताये है, उनका हमें अच्छी तरह से ज्ञान होना चाहिये। आचार्य श्री उमास्वामि ने तत्त्वार्थ सूत्र मे इस प्रकार कहा है स्वाध्याय के भेद करते हुए—

वाचनापृच्छनाऽनुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥२५॥अ० ६॥

अर्थ—१, वाँचना-आत्मकल्याण के लिए निर्दोष ग्रन्थो का स्वय पढ़ना, दूसरो को बताने अथवा पढाने के लिए पढना, वाँचना नामक स्वाध्याय है।

२, पृच्छना—सत्पथ की ओर गमन करने के लिए, मार्ग व पदार्थों का स्वरूप निश्चय करना तथा सशय निवारणार्थ प्रश्न पूछना, पृच्छना नामक स्वाध्याय का द्वितीय भेद है।

३. अनुप्रेक्षा—मन की स्थिरता कायम रखने के लिए, निश्चित किये हुए वस्तु स्वभाव व पदार्थ स्वरूप का बार-बार मनन-चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

४ आम्नाय—चित्त रोककर शान्तिदायक पाठो को शुद्धतापूर्वक पढ़ना, याद करना, घोकना, मनन करना आम्नाय नामक स्वाध्याय है।

५. धर्मोपदेश—सत्य की खोज करने के लिए मार्ग तथा संदेह निवृत्ति के लिए पदार्थ का स्वरूप कहना तथा श्रोताओ मे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में प्रवृत्ति के लिए धर्मोपदेश करना, प्रवचन देना, यह कहलाता है धर्मोपदेश नामक स्वाध्याय का पाँचवाँ अग। इस प्रकार स्वाध्याय पाच प्रकार का कहा गया है। मन, वचन, काय से इस स्वाध्याय मे रत रहना ही खोज है आत्मा की, प्राप्ति है-सुख की, बार (बारगा) है अशुभो को रोकने की।

स्वाध्याय किन ग्रन्थों का

हमें सही मार्गदर्शन वे ही शास्त्र दे सकते हैं, जिनके रचयिताओं ने सही मार्ग प्राप्त किया है। जिन्होने अपने को भलो प्रकार जान, कर्ममलसे परे हो संसार को भी जान लिया है, ऐसे भगवान् जिनेन्द्रदेव द्वारा कहे हुए—किया है चार ज्ञान के धारक गणधरो ने अर्थ जिनका और संसार-शरीर-भोगो से विरक्त ऐसे ३६ मूलगुणो के धारी आचार्यों ने की जिनकी रचना, ऐसे सद्शास्त्र हैं, स्वाध्याय करने योग्य। इनके अतिरिक्त राग-वर्धक, एकान्तपोषक, मिथ्यात्व से परिपूर्ण कुशास्त्रों का पठन-पाठन करना संसार का कारण है। रागी, द्वेषियो के रचे हुए शास्त्रो को पढने से राग-द्वेष ही को पुष्टि होती है, एकान्तवादियो के शास्त्रो को पढने से हमारे अन्दर एकान्त आ जाता है। इसी प्रकार मुक्ति-पथ-गामी, वीतरागी आचार्यों के ग्रन्थो को पढने, सुनने, अनुभव करने से दिखने लगेगा सच्चा मार्ग, उत्पन्न हो उठेगी भावोमें वीतरागता, हो जायेगा उसी समय भेदज्ञान। इसलिये आचार्यों द्वारा और उनके अनुसार ही जो ग्रन्थो की रचना की गयी हो मात्र वही स्वाध्याय करने योग्य हैं। आचार्यों ने उन सब ग्रन्थों को चार भागों मे विभाजित किया है—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग व द्रव्यानुयोग। इन चारो का स्वाध्याय किये बिना अनेकान्त हमारे में नही आ सकता। इसलिए चारो अनुयोगो का स्वाध्याय करना आवश्यक है। अब आगे चारो अनुयोगो का वर्णन किया जाता है।

चारों ही अनुयोग हैं, वीतरागता हेतु।
जो धारें क्रमसे इन्हें, करते हैं निज हेतु ॥३०॥

प्रथमानुयोग का स्वाध्याय क्यों ?

कथानुयोग, जिसको सबसे पहले होने के कारण प्रथमानुयोग कहते हैं।

इसका स्वाध्याय इसलिए आवश्यक है कि इसमें महापुरुषों के जीवन-चरित्र का वर्णन किया गया है, जिसको पढ़कर यह पता लगता है कि एक पापी, व्यसनी मनुष्य भी सदाचार का आश्रय लेकर अपने जीवन का उत्थान कर सकता है, मोड़ सकता है पापो की ओर से अपने को, और कर सकता है मुक्ति को प्राप्त क्रम-क्रम से। तथा एक धर्मात्मा मनुष्य भी पापादि कार्यों के करने से दुर्गति का पात्र बन सकता है, पथ भ्रष्ट होकर ससार-अटवी में भटक सकता है। साथ ही इसमें दुर्बोध से दुर्बोध तत्त्वो को साकार रूप दे दिया है। इसलिये इसका स्वाध्याय कर बालबुद्धि भी धर्म के रहस्य को समझकर उसे अपने जीवन में उतार सकता है। कथानक इतने रोचक हाते हैं कि पढ़ने-पढ़ते मन कभी नही कहता कि बस, ज्यो-ज्यो पढते जाते हैं त्यो-त्यो ही इच्छा बेल बढती जाती है। कथानक मात्र कथानक ही नही, यह उन महापुरुषो की गौरव-गाथा है, जिन्होने अपने पुरुषार्थ के बल से समस्त शत्रुओ को जीत मुक्तिवधू को प्राप्त किया है। ऐसे महापुरुषो का चरित्र पढने से जाग उठता है पुरुषार्थ और मोड़ लिया जाता है अपने को पापों की ओर से। कष्टो व दुर्गतियो से भयभीत होकर लगा दिया जाता है मन को धर्मकार्यों में, व्रत-आचरणो में, आत्म-चिन्तन मे, मुक्ति-लक्ष्मी से मिलने के लिए। इसलिये हमें प्रथमानुयोग के महापुराण, हरिवशपुराण, पद्म-पुराण, वराङ्गचरित्रादि ग्रन्थों का स्वाध्याय अवश्य करना चहिए।

प्रथम शास्त्र अनुयोगमें, पुण्य पाप फल दोय।
इन दोनोंको जानके, ज्ञानी निज में होय ॥३१॥

करणानुयोग स्वाध्याय क्यों ?

प्रथमानुयोगका स्वाध्याय तो हमने इसलिये स्वीकार किया है कि उसको पढ़ते ही जीवन मे मोड़ आ गया, करणानुयोग का स्वाध्याय किस लिए करे? इसमे जीव के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भावो का जड-कर्मो द्वारा निरूपण किया गया है। यद्यपि सभी दर्शनकारो ने कर्मसिद्धात का निरूपण किया है परन्तु जितना विशद व सूक्ष्म वर्णन इसमें जैन ऋषियो ने किया है इतनी अन्यत्र कही नही पाया जाता। कर्मसिद्धात का स्वरूप व विस्तृत वर्णन षट्खण्डागम, कषाय-पाहुड़, गोम्मटसार आदि ग्रन्थों में पाया जाता है। इसमें जोव के सस्कारगत कर्मों का बन्ध, उदय, सत्त्व, उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा, क्षय, क्षयोपशम आदि का वर्णन किया गया है। व्यवहारगत जीवो की तो बात ही क्या, समाधिगत साधु के भी वासनारूप मे कितने कर्मों एव सस्कारो की सत्ता हैं, इसका दिग्दर्शन यही अनुयोग कराता है, जिसमे साधक उन सूक्ष्म-से सूक्ष्म परिणामो की सत्ता जानकर उसका मूलत विनाश करने मे ही अपनी साधना की पूर्णता समझें।

कहीं एक दो स्थूल कषायों के उपशमन मात्र में ही अपनी साधना की पूर्णता का भ्रम न कर बैठे। इसलिये आवश्यक है इस अनुयोग का पठन-पाठन, मनन-चिन्तन।

इसके अतिरिक्त इस अनुयोग में सृष्टि का अध्ययन भी दिया गया है। भूगोल व खगोल की रचना किस प्रकार की है, स्वर्ग तथा पाताल लोक कहाँ है तथा उनका स्वरूप क्या है? वे आकाश मे किसके आधार पर टिके हुए हैं? इस पृथ्वी के अतिरिक्त अनन्तों और भी ब्रह्मांड इस अनन्ताकाश में विचरण कर रहे हैं, उनका परस्पर में क्या सम्बन्ध है, वे कैसे बने हैं, चन्द्र व सूर्य क्या चीज हैं, वे आकाश मे किसके आश्रित हैं, ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र आदि का गमनादि कैसे होता है, उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है, सूर्यग्रहण आदि क्या चीज है, ज्वार-भाटा कैसे आते हैं, इन ग्रहों व उपग्रहों का मानवीय प्रकृति से क्या सम्बन्ध है, मनुष्य के भावी सुख व दुखो को ये कैसे दर्शाते हैं, आदि-आदि सभी विषयों का उन आचार्यों ने गहन मन्थन कर इसमे उसे भर दिया है आज के भौतिक युग में जीने के लिए इन सभी का भली प्रकार अध्ययन व चिन्तन करना चाहिए।

करणानुयोगके स्वाध्याय बिना उन सूक्ष्म भावोंका पता नहीं लग सकता, जो हर समय आकर आत्मा के ऊपर आवरण बन कर छाते रहते हैं। इसलिये कर्मबन्धन से मुक्त होने के लिए करणानुयोग के ग्रन्थो का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

करण भावको कहत हैं, इनका वरणन होय।
वही करण अनुयोग है, लखे तरे भव सोय ॥३२॥

चरणानुयोग का स्वाध्याय क्यों ?

करणानुयोग का स्वाध्याय हमने इसलिए स्वीकार किया है कि जिन द्वारो से कर्म-लुटेरे आते हैं, उनको रोक अन्दर बैठे हुए कर्मों की खोज कर लें। परन्तु चरणानुयोग का स्वाध्याय करने से हमें क्या लाभ। क्या यह भी मार्ग-दर्शन देता है? चरणानुयोग उसे कहते हैं जिसमें आचरण अर्थात् चारित्रका विवेचन किया गया है, चारित्र बिना मुक्ति नही, यह कहावत बिलकुल ठीक है, क्योंकि ज्ञान भी तब तक ज्ञान नहीं जब तक चारित्र मे न उतरे। ज्ञान से विद्वान बन सकते हो, परन्तु भगवान नही। भगवान् बनने के लिये सर्वप्रथम सुधारना होगा अपना आचरण, ज्ञान को लाना होगा क्रिया रूपमे। इसको जानने के लिए आवश्यक है चरणानुयोग का स्वाध्याय। आचरण दो प्रकार का होता है— बाह्य व अन्तरङ्ग। बाह्य आचरण कुछ बाह्य व्रत-त्यागादि तथा बाह्य विवेक पूर्वक क्रियाओ से सम्बन्ध रखता है और अन्तरङ्ग चारित्र मन की

संसार-शरीर-भोगो से विरक्त वैराग्य-पूर्ण भावनाओं से। इन दोनोंका परस्परमें घनिष्ट सम्बन्ध है क्योंकि बाह्यमे विवेक व शुद्धता के होने से मनके विचारो पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। कहा भी है–" जैसा खावो अन्न, वैसा होवे मन।" इसलिए मन भी पवित्र दयावान् वैराग्यमय रखने के लिए बाह्य में भी चरित्र-वान् व अहिंसक प्रवृत्तिकी आवश्यकता है। बाह्य मे चारित्र व अहिंसकवृत्ति होने पर अन्तरङ्ग मे दयाभाव व पवित्रता सम्भव है। परन्तु बाह्यमे चरित्रहीन व हिंसकप्रवृत्ति हो तो अन्तरङ्ग मे पवित्रता व दयाभाव की उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है। अतः बाह्य व अभ्यन्तर दोनो प्रकार के आचरणार्थ चरणानुयोगके शास्त्रो का स्वाध्याय करें, उसे उतारें अपने हृदय मे। तभी मोड़ सकेंगे पर की ओर से अपने को अपनी ओर, पा जायेंगे उस अक्षय आनन्दको, जिसे प्राप्त किया है पूर्ण चरित्र का आचरण करने वालो ने।

कथन मिले आचरण का, चरण नाम के ग्रन्थ।
करते जो आचरण को, तज देते हैं ग्रन्थ ॥२३॥

द्रव्यानुयोग का स्वाध्याय क्यों ?

चरणानुयोगके बिना अन्तरङ्ग व बाह्य शुद्धि नही होती, इसलिए उसका स्वाध्याय करना हमने स्वीकार किया, परन्तु द्रव्यानुयोग का स्वाध्याय करने से क्या जीवन मे कोई लाभ है ? द्रव्यानुयोगके स्वाध्याय किये बिना जीवादि द्रव्यो का व तत्वो का यथार्थ स्वरूप नही जाना जा सकता और यह भी भेद-ज्ञान नही हो सकता कि जड़ व चेतन न्यारे-न्यारे है, मै तो मात्र ज्ञाता-द्रष्टा हूँ, पुद्गल से मेरा कोई सम्बन्ध नही। इसी का अध्ययन करने से हमे ज्ञात होगा कि अनादि-काल से इस विकट भव-वन में क्यो भटके हुए हैं, रागद्वेष क्यो होता है, कर्मबंध कैसे हो जाते हैं, आत्मा का स्वभाव क्या है, पुद्गल क्या है, आत्मा व पुद्गल भिन्न कैसे हैं, अभी तक सम्यक्त्व की प्राप्ति क्यो नही हुई, परको अपना हम क्यों मानते रहे, इस सभी का ज्ञान इसी अनुयोग से हो सकता है। आत्मज्ञान हो जाने के बाद मोड लिया जायेगा जड की ओर से अपनेको अपनी ओर, हो जायेगा आत्मज्ञान, केवलज्ञान। इसलिए अगर चाहते हो सच्चे सुख को, तो द्रव्यानुयोग का स्वाध्याय भी करदो शुरू, इसके बिना आत्मज्ञान होना असम्भव है, तत्वज्ञान होना कठिन है, सम्यग्ज्ञान होना दुर्लभ है। इन ज्ञानोके बिना मुक्ति सम्भव नही। मुक्ति हुए बिना सुख सम्भव नही।

शुद्ध वस्तुको जो कहे, वही द्रव्य अनुयोग ।
निजमें लखता द्रव्यको, वह होता अनुयोग ॥३४॥

इन चारों अनुयोगो के शास्त्रो का स्वाध्याय हमें क्रमसे मन-वचन-काय की चेष्टा को रोक कर करना होगा, तभी स्वाध्याय से होगा स्वज्ञान ।

स्वाध्याय और मनन

शास्त्रों का पठन-पाठन हम कितना ही क्यों न करते रहें, जब तक उसको अमृततुल्य समझकर न पियेगे अथवा उसपर बार-बार मनन न करेंगे, तब तक कोई लाभ नही हो सकता । गाय, भेंस दिन मे चारा खाती है और रात में उसे ही दुबारा चबाती है । ठीक उसी प्रकार हमें स्वाध्याय करने के बाद दिन-रात यह विचार करते रहना चाहिए, कि आज शास्त्र मे यह बात पढ़ी थी, अगर वह जीवनोपयोगी है, तो उसे जीवन मे उतारने का प्रयत्न करना चाहिए, और अनुपयोगी है तो उसे अपने नजदीक भी न आने देना चाहिए । मनन नाम इसी का है कि अच्छी बातो को लेना, खराब को छोड़ना । जब तक शास्त्र पढ़-कर मनन नही करेंगे, तब तक कोई लाभ नहीं होगा । जैसे एक व्यक्ति ने महा-राजजी से स्वाध्याय का तो नियम ले लिया परन्तु उसे आचरण मे लाने का नही, तो उससे कोई लाभ नही हुआ । लाभ तो उसी दिन होगा जब करना शुरू कर दोगे उसपर मनन और आचरण, पी जायेंगे जिनवाणीरूपी अमृत को, जैसे बुढ़िया का जमाई पी गया था घी को ।

स्वाध्याय साथमें मनन, अरु होवे आचरण ।
निश्चय इसका फल यही, मुक्तिरमा सह वरण ॥३५॥

दृष्टान्त

एक दिन बुद्धिकुमार के मनमे बैठे-बैठे विचार हुआ कि कल कुछ काम-काज विशेष नही है, न हो तो ससुराल ही हो आये, वहाँ कुछ लाभ होगा । और माल भी खाने को मिलेगा । घर पत्नी से कहके चल दिया बुद्धिकुमार और जा पहुचा कुछ ही समय के अन्दर ससुराल मे । सासू ने जमाई को देखा तो बाह्यमे दिखावटी खुशी मनाने लगी और अन्तरङ्ग मे करने लगी विचार कि आज कोई ऐसी चाल चली जाये, जिससे जमाई के लिए खीर, पुड़ी न बनानी पडे । भैंसका दूध भी खर्च न हो और घी भी । लोभी सासु जमाई के पास आकर पूंछने लगी अपनी बेटी के समाचार और कहने लगी—कुंवर साहब आप कमजोर कैसे हो गये ? क्या पेट आदिमे तकलीफ है ? चेहरे पर कुछ उदासी भी छाई हुई है । आप कोई बात की चिन्ता मत करो मैं आपके लिए हल्का भोजन बनाऊंगी ।

सासू जी ने कुछ ही समय मे खिचड़ी बनाके जमाई को बिठा दिया जीमने और आप ढोलने लगी पखे से हवा। जमाई ने मन मे विचार किया कि माल खाने के लिए तो आये ससुराल, यहाँ भी खिचड़ी मिली, इसमे भी घी नहीं। सासू जी ने कहा—कुँवर जी आप धीरे-धीरे क्यों जीम रहे हो? क्या खिचडी गर्म है? बुद्धि कुमार ने कहा कि नहीं, माताजी! हमारी माताजी जब कभी खिचडी बनाती हैं तो उसमे घी भी डालती हैं। सासू ने उसी समय पास में रक्खी हुई घी को कुलड़ी को थाली में ऊँधाकर दिया; परन्तु घी की बूद भी न निकली; क्योंकि घी जमा हुआ था। जमाई की बुद्धि तेज थी, जैसा नाम था वैसा ही काम। पास मे रखे हुए पानी के लोटे को फैलाके सासूजी से पानी का इशारा कर दिया। सासूजी पानी लेने गयीं इधर उसने घी को जलती हुई आग के ऊपर रखके गर्म कर लिया। सासू के आते ही कुछ धीरे-धीरे जीमना शुरू कर दिया तो वह कहने लगी कि घी और दूं क्या? जमाई ने भी इशारा कर दिया। उसने जैसे ही कुलड़ी ऊधाई उसी समय सारा का सारा घी थाली में आ गिरा। सासूके मनमें बड़ा धक्का लगा कि अब क्या करना चाहिए। बुढ़िया जमाई से कहने लगी कि हमारे यहाँ की रीति है कि सासू जमाई के साथ बैठकर जीमती है, उसने कहा कोई बात नही, बैठ जाइये। बुढ़िया ने यह कहते हुए कि लालाजी आपकी माँ हमारी बेटी को गाली निकालती हैं, लड़ती हैं, आप अपनी माताजी को समझाते नहीं। ऐसा कहते हुए सभी घी अपनी ओर कर बुढिया ने कहा कि आधी थाली मे आप जीमो, आधी में मैं। बुद्धि-कुमार ने यह कहते हुए कि आपकी बेटी को घर की बात बाहर नही कहना चाहिए, घर की घर मे ही इस तरह पी जाना चाहिए—थाली उठाई और सब घी को पी लिया। सासू झांकती रह गयी।

इसी प्रकार

चारो अनुयोगो के मन्थन से जो भगवान् की वाणीरूपी अमृत प्राप्त हो उसे इसी प्रकार पी जाना चाहिए, चाहे सामने जितनी भी जटिल समस्याये क्या न हो। इन चारों का मनन किये बिना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र और तप इन चार आराधनाओ की प्राप्ति नही हो सकती, चार आराधनाओ के बिना आत्मशुद्धि नही हो सकती, आत्म-शुद्धि के बिना पूर्णज्ञान (केवलज्ञान) नही हो सकता, केवलज्ञानके बिना अक्षत आनन्द अर्थात् मोक्षपदकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए इस गम्भीर, मधुर, अमृततुल्य, आनन्ददायक अनेकान्तमय जिनवाणी का स्वाध्याय, मनन, चिन्तन सदैव करते रहना ही समस्त धर्म का मूल है, परम तप है, परम आनन्द है, परम ब्रह्म की प्राप्ति है।

विज्ञान

इसके अतिरिक्त इस गम्भीर वाणीमें इस भौतिक विज्ञान के आविष्कृत सभी आविष्कारों की प्रक्रियाओं का निरूपण है। जो कालदोष से विलुप्त हो गये हैं परन्तु उनके नाम आदि अवश्य उपलब्ध हो जाते हैं। जैसे आग्नेय अस्त्र, धूम्रबाण, वरुणबाण, विमान, जलगमन, आकाश व अग्निगमन आदि ये ही, आज के बम, अश्रु गैस, हैलीकाप्टर, स्टीमर आदि हैं। महात्माओं ने जिस गणित का वर्णन किया है, आज के विज्ञानवेत्ता अभी उसको स्पर्श भी नहीं कर पाये। न करने की सामर्थ्य है क्योंकि इनका ज्ञान सीमित रूप में है, मात्र रूपी पदार्थ को ही देख सकते हैं। उन महाऋषियों का ज्ञान क्षेत्र मात्र यह लोक ही नहीं, अपितु परलोक भी था। वह बात बिलकुल सत्य मानी जाती थी-जिसे भारतीय ऋषि कह देते थे। आज वह बात सत्य मानी जाती है जिसे वैज्ञानिक कहता है। यह मालूम नही है भोली दुनियाँ को कि आज जो कुछ चमत्कार दिखाई दे रहा है, यह सब उन ऋषियो के द्वारा रचे हुए ग्रन्थों का ही है, जिन ग्रन्थों को न कुछ मूल्य लेकर विदेश भेज दिया गया था या जो अनुपलब्ध हो गये थे। आज भी जैन सिद्धान्त में पूर्ण विज्ञान भरा हुआ पड़ा है। पा जायेंगे अगर खोज करेंगे तो, उसकी गहराई मे जायेंगे तो।

स्वाध्याय एक का ही नहीं

सभी विषयो मे ज्ञानके विकास के लिए उपरोक्त सभी ग्रन्थ पठनीय हैं। परन्तु आत्म-कल्याण की दृष्टि रखने वाले का द्रव्यानुयोग व अध्यात्म के ग्रन्थ पढ़कर तत्त्व विवेक जागृत करना मुख्य कर्त्तव्य है, तथा पापरूप कर्म से बचने के अर्थ और सदाचार मे जीवन को उतारने के अर्थ आचार शास्त्रों का पठन भी अनिवार्य है। अन्यथा तो तत्त्व-विवेक केवल शब्दों का भाव व शुष्क चर्चा रूप मात्र बनकर रह जायेगा। तत्त्व-विवेकसे शून्य केवल आचरणबाह्य क्रियाकाण्ड-आडम्बर बनकर रह जावेगा। अतः दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। इसलिए मुक्ति-पथ की ओर चलने वाले प्रत्येक मानव को सभी सद्शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। जीवन में और कुछ करें, न करे, स्वाध्याय अवश्य करें।

स्वाध्याय निश दिन करें, लाख कामको छोड़।
अनुभव जिनका होयगा, करम जाय मुख मोड़ ॥३६॥

चतुर्थ आवश्यक कर्म : संयम

संयम सम नाँहि जगतमें, सुखका कारण कोय।
सब कुछ तजि संयम लहो, संयम से सुख होय ॥३७॥

मुक्तिपथ की खोज में चलने वाले भव्यजीवो को क्रमशः उसकी प्राप्ति का उपाय बताया जा रहा है। यहाँ जो उपाय बताया जा रहा है वह बिलकुल सरल है। इसके लिए तत्काल मुनि आदि बनने की भी आवश्यकता नही है, यह गृहस्थ अवस्था में भी सानन्द अपनाया जा सकता है। जो मार्ग यहा बताया जा रहा है वह पहली सीढी है श्रावक धर्म की। जिस प्रकार प्रथम सीढ़ी पर चढ़े बिना द्वितीय तृतीय नही प्राप्त की जा सकती, ठीक उसी प्रकार श्रावक धर्म के षट् कर्मों का पालन किये बिना श्रावक की द्वितीय, तृतीय श्रेणी प्राप्त नही की जा सकती मुनिपद व आत्मज्ञान में लीनता तो अन्तिम पैढ़ी है। कर्तव्य परायण व्यक्ति को मुक्तिपथ दिखने लगता है, वह आनन्दानुभव करने लगता है, परेशानिया उसे छोड़कर दूर भाग जाती हैं। जिस प्रकार धन का इच्छुक मनुष्य धन कमाने में लीन हो जाता है, भूल जाता है उस समय खाना-पीना सोना, सभी प्रकार के ऐसो आराम। ठीक उसी प्रकार मुक्ति-पथ की ओर चलने वाला भूल जाता है संसार-शरीर-भोगो की लालसा को, और हो जाता है लीन आवश्यक कर्मों मे, आत्मचिन्तन मे। देव पूजादि तीन आवश्यक कर्मों का विवेचन पीछे किया जा चुका है। अब यहा उन्ही आवश्यक कर्मों के संयम नामक चतुर्थ आवश्यक कर्म को बताया जायेगा।

संयम किसे कहते हैं

संयम पद में दो शब्द हैं—एक सम्, दूसरा यम। सम् शब्द का अर्थ है सम्यक् प्रकार, यम शब्द का अर्थ है दमन करना, अर्थात् दबाना। सम्यक प्रकार दबा देना आकुलता-व्याकुलता-उत्पादक विकल्पो को, जो कि विषय-भोगो के दृढ सस्कारवश या कर्तव्यविहीनतावश प्रतिक्षण नवीन रूप धारण करके हमारे अन्त करण में प्रवेश पाते रहते हैं। मुक्ति-पथ मे बाधक बनते रहते । उनको दबा देना है। क्रोधादि कषायो को रोक देना भी सयम है। हिसादि पापोसे अपने को रोकना भी सयम है, दौडते हुए इन्द्रियरूपी घोडो की लगाम अपने हाथ में रखना भी संयम है। मनरूपी हाथी को इच्छा-निरोधरूपी अकुश के द्वारा वश मे करना भी सयम है, दयाभाव से छह कायके जीवो की अपने द्वारा विराधना न होने देना भी सयम है।

सबसे बड़ा सयम है, अपने आप पर नियन्त्रण करना, अपने आप पर नियन्त्रण किये बिना आत्मसयम नही होता और आत्मसंयम के बिना मुक्त नहीं हो सकते। ऐसा ही किसी विद्वान् ने कहा है—

No man is free who is not master of himself,

"कोई भी आदमी मुक्त नही है जो अपने आपका स्वामी नही है", अर्थात्

जिसने अपने विकारभावों को नही जीता है, अपने अनन्त गुणरत्नों का स्वामी नही बना है, वह आत्मसयम नही पाल सकता–मुक्ति की प्राप्ति नही कर सकता, अतः हमे इसी समय कर लेना है विकारभावो को वशमे, बन जाना है सच्चा सयमी।

संयम के दो भेद किये गये हैं—एक इन्द्रियसंयम, दूसरा प्राणीसंयम। मुनिराज इसका पूर्णतया पालन करते हैं और श्रावक एकदेश, अपनी शक्ति अनुसार। पूर्ण संयम के प्रतीक जो परम दिगम्बर मुनिराज हैं अब उनका स्वरूप यहाँ बताते हैं।

पूर्ण संयम के प्रतीक

ध्यान ज्ञान तप लीन हैं, संग कुछ ना संग।
पूर्ण संयमी हैं वही, जिनके पिच्छी संग ॥३८॥

पूर्ण सयमका पालन तो वे परम-आदर्श गुरु ही कर पाते हैं जिन्होने पूर्ण संयमकी प्रतीक लेली है मयूरपिच्छिका अपने हाथ मे, छोड़ दी है लालसा संसार, शरीर और भोगो की, ले लिया है सहारा सम्यक् चारित्र का, कर ली है विजय प्राप्त सकल्प और विकल्पो के ऊपर। मयूरपिच्छि को सयम का उपकरण इसलिए कहा है कि जो गुण मयूरपिच्छि मे रहते है वह मुनिराज के अन्दर भी पाये जाते हैं। पिच्छि के बिना मुनिराज भी पूर्ण संयम का पालन नही कर सकते। पिच्छि के पाच गुणो का कथन करते हुए मन्त्रलक्षण शास्त्र में इस प्रकार लिखा है—

छत्रार्थं चमरार्थं च रक्षार्थं सर्वदेहिनाम्।
यन्त्र-मन्त्र-प्रसिद्ध्यर्थं पञ्चैते पिच्छिलक्षणम् ॥

पिच्छि आवश्यकता होने पर छत्र भी है, चमर भी और यन्त्र-मन्त्र की प्रसिद्धि (सिद्धि) के लिये भी इसका व्यवहार किया जाता है और सम्पूर्ण प्राणियो की रक्षा लिए तो खासतौर से है ही। मूलाराधना मे पिच्छिके पाच गुणो को इस प्रकार बताया है—

रजसेवाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लघुत्तं च।
जत्थेदे पंचगुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ॥६८॥

पिच्छि रज व स्वेद को ग्रहण नही करती और उसमें मृदुता, सुकुमारता व लघुत्व (हल्कापन) भी पाये जाते हैं। जिस पिच्छि में ये पंच गुण विद्यमान हो ऐसे पूर्ण सयम के उपकरण की प्रशंसा करने मे कौन समर्थ है? कोई नहीं।

पूर्ण संयम अर्थात् इन्द्रिय संयम और प्राणि संयम को महामुनिराज अट्ठाईस मूल-गुणो के धारी किस प्रकार पालन करते हैं, यह बताया जा रहा है।

उपरोक्त संयम के दो भागो में से सर्वप्रथम इन्द्रियसयम की बात करते हैं। हमारे आदर्श स्वरूप गुरु तो पूर्णतया इन्द्रिय-विजयी हैं क्योंकि देखो—स्पर्शन इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करने के लिए उन्होंने समस्त वस्त्रो का भी त्याग कर दिया है। इससे सर्दी, गर्मी, बरसात, मच्छर, मक्खी आदि की बाधाओं से बचने का लेश मात्र भी विकल्प नही रहा है। सर्दी की तुषार वर्षाती हुई रातों में कही बीहड वन व श्मशान के बीच, आकाश की छत्र छाया में वह स्पर्शन इन्द्रिय-विजयी किसी एक आसन से विराजे निशल्य हो स्वानुभव करते रहते हैं। गर्मी की आग बरसाती हुई दोपहरी मे तप्त बालू व शिला के ऊपर धारण किया हुआ उनका आतापन योग यह दिखा रहा है कि शरीर से छूट गया है पूर्ण ममत्व इनका। स्पर्शन सम्बन्धी मैथुनभाव के ऊपर जयघोषणा करने वाली उनकी निर्विकृत शान्त आभा और भी स्पर्शन इन्द्रिय विजेतापने को प्रकाशित कर रही है।

आहार को जाने से पहले ये रसनाइन्द्रिय-विजेता मुनिराज एक, दो या समस्त रसो का त्याग कर देते हैं। श्रावक के घर कितने ही स्वादिष्ट पदार्थ क्यो न बने हो, परन्तु ये आहार लेते समय स्वादिष्ट-अस्वादिष्ट मे, नमक सहित व रहित में, मीठे या खट्टे मे, कडवे या कषायले मे, चिकने या रूखे में, गर्म या ठण्डे में, कोई रुचि नही रखते, मात्र संयम पालनार्थ उदरपूर्ति करते हैं। आहार लेते समय अन्तराय हो जाय तो उसी समय समस्त आहार-जल-का आनन्दपूर्वक त्याग कर देते हैं। श्रावक के ऊपर जरा भी रोष नही करते। समताभाव से वन या मन्दिर की ओर चले जाते हैं। मुनिराज कभी स्वप्न में भी कोई स्वादिष्ट आहारादि ग्रहण कर लेते हैं तो उसका त्याग अथवा प्रायश्चित करते हैं। यह सब बाते उन्हे जिह्वाइन्द्रिय-विजयी सिद्ध कर रही हैं। रोम-रोम को पुलकित कर देने वाला, सब सत्व-कल्याण की करुणापूर्ण भावनाओं से निकला, उनका सर्वजन हितकारी व अत्यन्त मिष्ट सम्भाषण, वचन पर उनका पूर्ण नियन्त्रण दर्शाता हुआ उनके पूर्ण जिह्वाइन्द्रिय-विजयी होने का विश्वास दिला रहा है।

महासंयमी ऋषिराज पूर्ण नासिकाइन्द्रिय-विजेता होते हैं। मार्ग चलने मे सन्मुख विष्टा आदि कितनी भी दुर्गन्ध वस्तुएँ क्यो न आ जाये, परन्तु उनकी मुखाकृति व अपूर्व शान्ति मे लेशमात्र भी अन्तर नही आता। किसी कुष्टी आदि ग्लानिमय शरीरधारी को देखकर भी ग्लानि कर उनकी आँख का दूसरी

ओर न घूमना तथा किसी फुलवाड़ी से नाना प्रकार के पुष्पों की मन्द सुगन्ध आने वाली हवा की ओर उनके मन का आकर्षित न होना, पूर्ण नासिकाइन्द्रिय-विजयीपने को सिद्ध करता है। सुगन्धि में रागभाव व दुर्गन्धि में द्वेषभाव का न होना उनके पूर्ण वीतराग व शान्ति के रसास्वादन का प्रतीक है, जिसके कारण उन दोनो में उन्हें भेद ही प्रतिभासित नही होता।

जिनके सामने नवयौवन वाली युवतियां कितने ही हाव-भाव क्यों न दिखाती रहें, चाहे स्वर्ग से भी आकर मनको हरण करने वाली अप्सरायें कितने ही नृत्यगान क्यो न करती रहे, परन्तु उन महामुनिराज के नेत्रों की दृष्टि नासा से विचलित नही होती। शेर, हाथी, व्याघ्र आदि के कितने भी भय नेत्रों के समक्ष क्यो न आ जायें, किन्तु पूर्ण नेत्र विजयी ऋषिराज के मन में किसी प्रकार का भय उत्पन्न नहीं होता।

जो लीन हैं आत्म-ध्यानमे, उनकी चाहे करते रहो भक्ति गा-गाके बजा-बजाके, चाहे कोई देते रहो गाली, बोलते रहो शब्द, किन्तु कर्णेन्द्रिय के पूर्ण विजेता, महात्मा, आदर्श गुरु न तो भक्त द्वारा की गयी अनेक प्रकार की भक्ति के ऊपर ही ध्यान देते और न निंदक के द्वारा अनेक प्रकार की दी गयी गाली पर ही। करुणाभाव से आशीर्वाद देते समय दोनो के प्रति उनकी एक ही दृष्टि रहती है।

इच्छाओ का निरोध होने से हो गया है मन वश मे जिनके, पूर्णतया पालन करते हैं प्राणिसंयम का, ऐसे महाव्रतो से विभूषित, पंचसमितियो व तीन गुप्तियो का निर्वाह करने वाले पूर्ण संयमी गुरुओ की शरण मे जाके हमें भी जो उनमें गुण हैं उन्हे अपनाने का उपाय करना चाहिए, संयमी बनने का प्रयत्न करना चाहिए। एकदेश सयम का स्वरूप दिखाते हुए यहा इन्द्रिय संयम को बताया जाता है।

किस विषय का त्याग

अब करना है उपाय क्रम से अपने को संयमी बनाने का। यहां इन्द्रिय-विषयो को दो भागों मे विभाजित किया जाता है, एक तो आवश्यक, और दूसरा अनावश्यक। मानाकि आवश्यक इन्द्रिय विषय नही छोडा जा सकता, परन्तु अनावश्यक को छोड़ने में क्या आपत्ति है अर्थात् कुछ भी नही। क्योकि इनके त्याग से हमारे शरीर या गृहस्थी आदि में भी किसी प्रकार की बाधा आने वाली नही। अगर मोड़ ले अपने मन को, तो अवश्य ही इन्द्रिय विषयो के चक्कर से बचाया जा सकता है, जो कि हमारे जीवन मे अत्यन्त दुःखदायी हैं। जिसके कारण हमें सदैव व्याकुल रहना पड़ता है, जिसके कारण विवेकबुद्धि भी नष्ट

हो जाती रही है, हिताहित का ज्ञान शून्य हो जाता है। अगर कुछ प्रयत्न किया जाय, तो पूर्ण रूपसे न सही, परन्तु आशिक रूप से इन्द्रिय-विजयी बन जाओगे।

इन्द्रिय विजय किसे कहते हैं ?

पंचेन्द्रियका रोध कर, सोध सही निज भाव।
इन्द्रिय संयम है यही, प्रगटावे निज भाव ॥३६॥

इन्द्रिय बिषय से मात्र वे ही नही लेने, जो शरीर के नेत्रादि से दिखते हैं परन्तु है तो हमारे अन्तरंग का वह विकारभाव जिसके कारण न जाने क्यो अपने आप उन नेत्रादि इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण किये अर्थात् जाने हुए पदार्थों व विषयों की ओर रुचिपूर्वक झुक जाते हैं। जिसके कारण कि उन-उन पदार्थों व विषयो का उन-उन इन्द्रियो से ग्रहण करते समय हमारे अन्दर स्वत ही कुछ-कुछ आनन्द जैसा आने लगता है और उस प्रकार का भाव आ जाने पर जिसके बार-बार ग्रहण करने की इच्छा उठती रहती है। कहते है वही और लाओ, इसी में आनन्द आता है, इस प्रकार मन व इन्द्रिय की लंपटता को कहते हैं विषय-वासना। आवश्यक विषय भी छोडे जा सकते हैं परन्तु इच्छाओ का निरोध होने पर। इच्छा, वाञ्छा, लालसा, रागभावपूर्वक शरीरादि की और विशेष रुचि रखना, आनन्द लेना ही कहा जाता है इन्द्रिय-विषय। एक-एक इन्द्रिय के वश होके प्राणी अपने प्राण खो बैठते हैं। हमारी न जाने क्या गति होगी। कहा भी है—

अलि पतंग मृग मीन गज इनके एक ही आँच।
तुलसी वाकी कौन गति जाके पीछे पाँच ॥

स्पर्शनेन्द्रिय संयम

क्यों करि तनमें रमि रहे, जला रागकी आग।
ये पुद्गल निश्चय गले ममता इससे त्याग ॥४०॥

सर्वप्रथम यहाँ स्पर्शनेन्द्रिय के विषय का वर्णन किया जा रहा है। इसके दो विषय हैं। एक तो वह जिसमे गर्मी का भान करते हुए सुख-दुःख का अनुभव करना। दूसरा है कोमल, कठोर, चिकनी व रूखी वस्तुओ को स्पर्श करके अपने को सुखी-दुखी मानना। पहला जो इद्रिय-विषय है, हो सकता है अपन कमजोरी के कारण उसका त्याग न कर सके। गर्मी के दिनो में हवा आदि के बिना न रह सके, सर्दी के दिनो मे वस्त्रादि के बिना न रह सकें। परन्तु सुन्दर कीमती सिल्की, नायलोन, टेरालीन, फोम, जरी व ऊनी वस्त्र, मखमली गद्दे, सोफासेट

आदि वस्तुएँ और अनेकों प्रकार के वर्तमान जेवर, आभूषण, ऐशोआरामदायक पदार्थ तथा अन्य इसी प्रकार की कोमल व शरीर को सजाने के अभिप्राय से अपनाई गई वस्तुएं और शरीर को मलकर धोने के लिए अनेकों प्रकार के साबुन, शरीर चिकना, चमकीला, सुगन्धित बनाने के लिए तेल, इत्र, क्रीम, पाउडर आदि अनावश्यक इन समस्त वस्तुओं का त्याग कर दें तो हमारी क्या हानि होगी ? कुछ भी नहीं, लाभ अवश्य होगा। दिन-रात पैसा कमाने की राह खोजते रहते हैं, शान्ति क्षणभर भी नही मिलती, धर्म-ध्यान के लिये समय नहीं। इन सबका मूल कारण है ये अनाश्यक लालसायें और उनमें व्यर्थ खर्च।

स्पर्शनेन्द्रिय-सयम का पालन तो हमारे बुजुर्ग सही रूप से करते थे। उनके पास अनावश्यक खर्चे का तो कोई प्रश्न ही नही उठता था। उनके लिए दो धोती, दो कुरते काफी थे। अधिक-से-अधिक तीन, एक कहीं आने जाने के लिये। माताओ के पास भी दो जोड़ा से अधिक लहगे, लूगड़ी नहीं थे। आभूषण उनके पास होते थे सोने चादी के परन्तु ठोस, जब मन आये बेच लो, पूरी की पूरी रकम तैयार है। तेल, साबुन आदि अनावश्यक खर्चों का तो काम नहीं था। स्पर्शनेन्द्रिय के किसी विषय में आसक्त नहीं थे। पैसा कमाने की भी अधिक चिन्ता नही थी, एक कमाता, दस खाते। परन्तु कमी नहीं आती, क्योकि वह सब सयमी थे ।

आज हम लोग तो स्पर्शनेन्द्रिय विषय खोजने में ही हित मानते हैं। कई जोडी पेन्ट, शर्ट सूट हमारी अटेचियों मे भरे पड़े हुए हैं, फिर भी बाजार में किसी नई डिजाइनका कपडा आया, बस देर ही क्या है, पैसा नही है, तो उधार ही सही, परन्तु उसी समय खरीद कर सिलायेंगे। शरीर को सुन्दर दिखाने के लिए सुबह होते ही डाढ़ी बनायेंगे, बूट पालिस करेंगे, तेल साबुनादि के द्वारा स्नान कर क्रीम, पाउडर, सेन्ट आदि अनेक सजावट कर देखेंगे अपने चेहरे को कि हम कितने सुन्दर है।

आज हमारी माताएँ भी स्पर्शनेन्द्रिय के सजाने का ही साधन जुटाने में अपने अमूल्य समय को व्यर्थ खो बैठती हैं। इन्द्रिय सयम के विषय मे तो कभी विचार ही नहीं करती, अनावश्यक इच्छाओ को जन्म देती रहती हैं। अगर पास मे पचास साडी भी हैं तो भी किसी सहेली को नई डिजाइन की साड़ी पहने देख लेगी तो उसी दिन पतिदेवसे पैसे लेकर नई साड़ी खरीदकर लायेगी। अगर पैसा नही दिया किसी कारणवश पतिजी ने, तो नाराज हो जायेंगी। खाना नही बनायेगी। वे आजके दिखावटी जेवरको, पसन्द करेंगी, चाहे उसमें कोरा कांचही क्यो न हो, उसके बेचने पर आधेही पैसे क्यो न आयें, सोनेके पुराने जेवरसे तो

नफरत जैसी हो गयी है। अगर वह घरमें है भी तो तुड़वाकर उसमें नगीने आदि जड़वाकर दिखावटी बनवायेंगी। शरीर को सुन्दर बनाये रखने के लिए तेल, साबुन, क्रीम, पाउडर आदि से अलमारी भरी पड़ी रहती है फिर भी उनकी इच्छा पूरी नही होती, बाजार जाने पर कुछ न कुछ लेकर ही आती हैं। कभी यह नही है, कभी वह नही है, मात्र इसी चिन्ता मे अपना समय पूर्ण कर देना ही मात्र कर्त्तव्य हो गया है।

सभी परिवार की इच्छाओं की पूर्ति करने में हम भूल गये अपना सुख-दुःख, चौबीसों घण्टे आर्त्त-रौद्र ध्यान मे ही निकल जाते है, न क्षण भर शान्ति मिलती है, न मित्रों से मिलने का समय, न कर सकते हैं प्रेम से अपने बच्चों के साथ बातचीत। लगे रहते हैं चौबीस घण्टे धन कमाने में। क्या यही है नरभव का सार? हमसे तो वह पशु अच्छा है जो दिन मे चारा खाके रात्रि में आनन्दसे जुगाली करता है। हमें तो दिन-रात चैन ही नही।

कुछ लोग कहते हैं कि अन्तरंग शुद्ध चाहिये, बाह्य दिखावे से होता ही क्या है? जब तक बाह्य शुद्धि नहीं होगी तब तक अन्तरग शुद्धि हो ही नहीं सकती, और अन्तरंग शुद्धि होगी तो बाह्य शुद्धि अवश्य होगी। जैसे शरीर से ममत्व हटने पर उसके विषयों की इच्छा ही नही उत्पन्न होगी तो फिर क्यों कर उन्हें अपनाया जायेगा। जब हम कर देंगे शुरू चलना मुक्तिपथ की ओर, और समझ लेंगे स्पर्शनेन्द्रिय के सयम का महत्त्व तो उसी समय आवश्यक व अनावश्यक सभी विषय छूट जायेंगे और अपना लेंगे स्पर्शनेन्द्रिय सम्बन्धी सयम को।

रसना-इन्द्रिय-संयम

हे जिह्वाके लोलुपी, पर रसमें भरमाय।
जो रसनाको बस करे, निज रस निजमें पाय ॥४१॥

मुक्तिपथ की ओर अग्रसर भव्यजीवों को मुक्तिपथ में बाधक विकल्पों के निषेधार्थ, जीवन को यथा-शक्ति सयमित बनाने की प्रेरणा की जा रही है। संयम के प्रथम अंग इन्द्रिय संयम के अन्तर्गत स्पर्शन इन्द्रिय सम्बन्धी सयम की बात हो चुकी। अब कही जाती है जिह्वादि शेष इन्द्रियों को सयमित करने की बात।

जिह्वा-इन्द्रिय-संयम का अर्थ है जिह्वा की लोलुपता को रोकना। जिह्वा इन्द्रिय के भी दो विषय समझने चाहिये - एक आवश्यक, जिसके बिना काम न चले, दूसरा अनावश्यक, जिसके बिना अपना काम चलाया जा सकता है। आवश्यक विषय मे है क्षुधा शमनार्थ किए गये भोजन को चबाकर अन्दर ले

जाना तथा घर के व्यक्तियों से व्यापारादि उद्योगों में ग्राहकों से व अन्य सम्बन्धित व्यक्तियों से यथायोग्य संभाषण करना अथवा अपने सम्पर्क में आने वाले अन्य साधारण व असाधारण व्यक्तियो से योग्य सम्भाषण करना। कठोर, अप्रिय, अश्लील वचन नही बोलना। अनावश्यक विषय में आता है, उस किये गए भोजन के स्वाद में या अन्य स्वादिष्ट मिष्ठान्न, नमकीन, चाट आदिक पदार्थों में अपनी आसक्ति-लोलुपता होना और निष्कारण किसी से द्वेष या किसी की निन्दा करना, चुगली करना, गाली देना, मजाक उड़ाना, व्यंग कसना, आपस में घरों मे फूट पड़वा देना, भाई-भाई, पिता-पुत्र में झगड़ा खडा कर देना, यह ऐसी जो आदते पड़ी हुई हैं, ये सभी अनावश्यक अहितकारक जिह्वा-इन्द्रिय के संयम में बाधक हैं।

यहाँ भी आवश्यक विषय अर्थात्—भोजनादि द्वारा उदर-पूर्ति के बिना और सम्भाषण किये बिना गृहस्थ-जीवन का चलाना कठिन ही है। परन्तु उपरोक्त अनावश्यक विषयों को त्यागने मे हमारे सामने क्या बाधा आनी है? कुछ भी नही। जरा विचार करके देखे तो पता चल जायेगा कि इन अनावश्यक विषयो के कारण हमारे मे प्रति समय कितनी भांति के संकल्प-विकल्प उत्पन्न होकर व्याकुल बना रहे हैं। अनुकूल स्वाद न मिलने पर क्रोध की ज्वाला में अपने को जलता हुआ हम स्वय अनुभव करते हैं, जिह्वा-लोलुपता की पूर्ति के लिए अनेक स्वादिष्ट पदार्थों को बनाने मे हमारा कितना समय व पैसा खराब हो जाता है, जिसके कारण सभी दैनिक बजट बिगड़ जाते हैं। उसकी पूर्ति अपना सारा अमूल्य समय धनोपार्जन मे लगा देने पर भी नही होती।

जरा विचार तो हम करे कि इन स्वादिष्ट अनेक प्रकार के पदार्थों को खाने से कही हमारी हानि तो नहीं हो रही है? आज देखा जाता है कि प्रायः करके सभी लोग मंदाग्नि, बवासीर की बीमारी, पेट सम्बन्धी रोग, गैस, दिल आदि की बीमारियो से परेशान है। इन सबका कारण है हमारी जिह्वा-लोलुपता। नमकीन मिर्ची के भुजिये आदि दही के साथ खाने से बवासीर आदि का भय रहता है, स्वादिष्ट चटनी चूर्ण आदि का प्रयोग करने से हाजमा बिगड़ जाता है, अनेको प्रकार के मावादि के मिष्ठान्न खाने से पेट खराब हो जाता है, गरिष्ठ भोजन से पेट मे वायु बन जाती है, चाय पीनेसे खून जल जाता है, निद्रा कम आती है। इन सभी बनावटी वस्तुओ को हमे छोड़ देना चाहिए और शुरू कर देना चाहिए जो प्रकृति ने हमारे लिए सादा भोजन दाल–रोटी बनाया है। उससे तो जिह्वा इन्द्रिय का सयम भी शुरू हो जायेगा, अधिक पैसा कमाने की लालसा भी कम हो जायेगी, धर्म ध्यान के लिए कुछ समय भी मिल जायेगा,

आधी से अधिक कमाई का खर्चा दवाओं के लिए हो जाता है, उसका बचाव हो जायगा।

आजकल जो चाय-नाश्ता आदि जो हमारे मुँह लग चुका है, यह वास्तव में नाश का ही कारण है। सर्वप्रथम तो चाय आदि पीने से भूख का नाश होता है, जिसके कारण हमारा शरीर कृश हो जाता है, निद्रा कम आती है। दूसरे पैसे का नाश होता है, जिसके कारण आकुलता उत्पन्न हो जाती है। इसलिए चाय, बिस्कुट, डबल रोटी, चाट, पकौड़ी, चोकलेट आदिका खाना-पीना बन्द कर दें और करें सादा तथा शुद्ध भोजन, जिससे रसनापर हो जायेगा कन्ट्रोल स्वतः ही। इस जिह्वा इन्द्रिय के वशीभूत होकर कई प्राणियो ने अपने प्राण भी दे दिये हैं। सुभौम चक्रवर्ती ने मधुर फल के कारण नवकार मन्त्र का अविनय कर प्राण दे दिये थे–यह कथा प्रसिद्ध है। जिह्वा के वशीभूत हो बालकों का मांस खाके बक राजा को नरक जाना पड़ा था, मछलियाँ जान गंवा देती है रसना इन्द्रिय के खातिर, अगर हम भी रसना के वशीभूत हो गये, संयमी न बने, तो हो सकता है कि हमे भी दुःख उठाना पड़े।

जिस तरह स्वादिष्ट खाद्य पदार्थोंकी ओर से रसना को मोड़ें ठीक उसी तरह से अश्लील, असत्य भाषण से अपने को मोड़े, किसी को कटु वचन न कहे, व्यर्थ ही सडको पर खड़े रहकर लोगो की निन्दा न करें, इधर का उधर काना-फूसी न करे, दूसरों की हँसी–मजाक न उड़ाये, क्योंकि यह सब करने मे लोक–निन्दा तो होती ही है परन्तु परलोक भी बिगड जाता है। इस कारण इन समस्त बातों का त्याग कर कुछ समय के लिए मौन रखे। बोले तो हित-मित-प्रिय वचन, जो कि शत्रुओ के दिल को भी पिघला कर मित्र बना दें, भर जाये उसके हृदय में आनन्दरस। तभी वाणी बोलना सार है अन्यथा तो बकवास है।

किसी कवि ने कहा है वाणी ऐसी बोलनी चाहिए—

वाणी ऐसी बोलिये, मनका आपा खोय।
आपहुको शीतल करे, औरहु शीतल होय॥

ऐसी वाणी को भर्तृहरि ने नीतिशतक में मनुष्य का आभूषण कहा है-

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला,
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्धजाः।
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते,
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं, वाग्भूषणं भूषणम् ॥१६॥

अर्थात्—मनुष्य को न तो बाजूबन्द भूषित करते हैं, न चन्द्रमा के समान उज्ज्वल हार ही, न स्नान, न चन्दनादि का लेपन, न फूल और न सजाये हुए बाल ही। केवल वाणी ही पुरुष को अच्छी तरह से विभूषित करती है, जो हित, मित, प्रिय रूप संस्कारों से धारण की जाती है। भूषण तो नष्ट हो जाते हैं परन्तु वाणी रूपी भूषण नित्य रहने वाला भूषण है।

इसलिए वाणी को भूषण बनाने के लिए ध्यान रहे कि कहीं हमारे मुख से अप्रिय, कठोर, दूसरों के अहितकारक, असत्य वचन तो नहीं निकल रहे हैं। इस जिह्वा से किसी को क्रोध-पिशाच के वशीभूत होकर गाली दे दें, अपशब्द कह दें, तो देखें उसका नतीजा क्या होता है? कभी-कभी तो सिर भी फूट जाते हैं, जान भी चली जाती है, आर्त-रौद्र ध्यान के कारण मरकर भी दुर्गति में दुःख ही उठाने पड़ते हैं। अब अपनी प्रशंसा और दूसरो की निन्दा करना छोड़ दें और कर ले विजय प्राप्त रसना इन्द्रिय के ऊपर। अगर अभी पूर्ण विजय प्राप्त न कर सको, तो कम से कम अनावश्यक विषयों का तो त्याग कर दो, तो कुछ-कुछ आनन्द आना शुरू हो जायेगा। जिसने रसना इन्द्रिय को वश में कर लिया वह सबको वश कर सकता है।

अभी हम पूर्ण रसना इन्द्रिय को वश में न कर पायें तो कोई बात नहीं; परन्तु धीरे-धीरे इसके प्रति जो हमारा रागभाव है उसे हटाने की कोशिश करें। जितना त्याग (एक देशमय) हो सके उतना ही करे, तो एक दिन वह आ सकता है कि जब हम अपने को पायेंगे पूर्ण जिह्वा-इन्द्रिय-विजयी। अभी हम वास्तव में परिचित नहीं हैं संयम से कि क्या है यह, और इसका फल क्या होता है? जिस दिन परिचित हो जायेंगे, उसी दिन पायेंगे अपने को किसी दूसरी दुनिया में। आज जो मन अच्छे-अच्छे माल खाने को और फालतू बकवास करने को कहता है, फिर यह कहेगा कि छोड़ दो अभी खाना-पीना और ले लो मौन सब दुनियाँ की ओर से। उस समय हो जायेगा पूर्ण रसना-इन्द्रिय-संयम।

नासिका इन्द्रिय-संयम

घ्राणेन्द्रिय बस होयके, भूल गए निज गन्ध।
अब तो निजकी गन्ध ले, क्यों परमें है अन्ध ॥४२॥

जिस प्रकार स्पर्शन और रसना-इन्द्रिय सयम की बात कही उसी प्रकार अब कहते हैं नासिका-इन्द्रिय-सयम की बात। नासिका-इन्द्रिय के भी दो विषय हैं, आवश्यक तथा अनावश्यक। आवश्यक विषय वह कहा जाता है जिसके बिना काम न चलाया जा सके; जैसे श्वासादि। अनावश्यक विषय वे कहे जाते है जिनके त्यागने पर किसी प्रकार की हानि न हो, जैसे इत्र इत्यादि की सुगन्ध लेना।

आवश्यक विषय का त्याग नही किया जा सकता, तो हम न करें, परन्तु अनावश्यक विषय का तो त्याग कर दे, जिससे कि हमारे सयम में बाधा आती है, राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, नासिका इन्द्रिय के वशीभूत हो जाना पड़ता है, स्वभाव से विभाव की ओर झुकाव हो जाता है, आदत के लग जाने के बाद अनेक प्रकार की आपत्तियों का सामना करना पड़ता है।

गन्ध प्रत्येक पदार्थ में पाई जाती है। परन्तु नासिका इन्द्रिय के वशीभूत हो उसमें उपसर्ग अपनी इष्ट व अनिष्ट कल्पना से लगा देते हैं। वास्तव मे देखा जाय तो हमे कोई अधिकार नही है, अपनी इच्छानुसार वस्तु बनाने का। गुलाब इत्यादि की सुगन्ध में 'सु' व प्याज इत्यादि की गन्ध मे 'दु' उपसर्ग लगाकर, सुगन्ध मे राग करते हैं दुर्गन्ध में द्वेष। इस अपनी इष्ट व अनिष्ट कल्पना को बिलकुल हटा देना चाहिए, तभी बनेंगे हम मानव, तभी हम चल सकेंगे मुक्तिपथ की ओर।

नासिका इन्द्रिय के वशीभूत हो कभी-कभी अपनी जानसे भी हाथ धोने पड़ते हैं। एक भँवरा किसी सरोवर में एक कमल के अन्दर बैठ गया और भूल गया सुगन्ध के आनन्द मे कि कितना समय हो गया। दिनकर के चले जाने पर कमल बन्द हो जाता है, तब आया ध्यान अलिको कि अब क्या करना चाहिए, किस विधि होगा निकलना, पूरी रात विकल्पो के अन्दर व्यतीत होती है, सूर्य निकलने से पहले ही आता है एक गजराज पानी पीने तालाब मे। पीछे जाते हुए गजराज ने तोड़ लिया उसी कमल को, जिसमे नासिका लोलुपी भँवरा बन्द था। हाथी ने उस कमल को मय भौरे के चबा लिया और भंवरा गवां बैठा सुगन्ध के वश हो अपने प्राण।

हमे अपनी नासिका इन्द्रिय को वश मे कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। जब तक इसे वश में नही किया जायेगा तब तक हम सयमी नही बनेंगे, सुगन्ध व दुर्गन्ध में समभाव नही रखेंगे, क्रीम, पाउडर, इत्र इत्यादि का लगाना बन्द नही करेंगे। और जब तक यह नही होगे तब तक नासिका-इन्द्रिय-सयम भी नही होगा। इसलिए कर दे दमन नासिका इन्द्रिय के विषय का और बन जाये सयमी।

नेत्र-इन्द्रिय-संयम

सुन्दर तनको देखते, निधी गई निज खोय।
पलक ढारि मन मोड़िके, लखि निज अनुभव होय ॥४३॥

अब चलती है चक्षु-इन्द्रिय के विषय की बात, जिसका काम है देखना-रागभाव से व द्वेषभाव से, जैसे कुटुम्बीजनो को व किसी शत्रु को। निर्विकार-भाव से, जैसे अपनी माता को व किसी सुन्दर स्त्री को। करुणाभाव से व क्रूर

भाव से, जैसे अपने व्याधि से घिरे पुत्र को व सर्पादिक को। प्रेम से व भय से; जैसे स्व-वल्लभा को व सिंह को। बहुमान से व मनोरंजन से जैसे देव-गुरु को व धार्मिक उत्सवो को, तथा सिनेमा आदि को और अन्य भी अनेको विरोधी अभि-प्रायो से देखना। इन सर्व अभिप्रायो मे राग से देखे बिना वर्तमान अवस्था में चलना प्रतीत नही होता। परन्तु द्वेषभाव से. विकृतभाव से, क्रूरभाव से, भय से तथा मनोरंजन आदि के भावों से देखने का त्याग तो सहज ही कर सकते हैं। इन समस्त दृष्टियों के त्याग से तो हमारी दैनिक चर्या मे बाधा आने की बजाय लौकिक व अलौकिक दोनो रीतियो से कुछ न कुछ सुख की झलक ही आयेगी, शान्ति ही मिलेगी।

आज हम चक्षुइन्द्रिय के वशीभूत होकर भूलते जा रहे हैं अपने आपको। सिनेमा जाना तो हमारा आवश्यक कार्य हो गया, जिसे देखने से सिवाय पतन मार्ग के और कोई मार्ग खोजने की कभी कल्पना भी नही की जा सकती। चोरी करना, जेब काटना, झूठ बोलना, फैशन करना, किसी की शर्म न करना, व्यभि-चार करना, हर किसी को जवाब देना, व्यसनों मे फँस जाना, अश्लील शब्द बोलना, यह सभी करामात सिनेमा देखने के कारण हैं। अतः हमे चाहिये कि सभी सिनेमा आदि खोटे मार्गदर्शक खेल तमाशे नही देखें, चक्षुइन्द्रिय को अपने वश मे रखे। किसी के सुन्दर स्वरूप को देखकर मोहित न हो जाये, इसमें सिवाय हानि के लाभ जैसे कही बात ही नही, लोक निन्दा होती है, शरीर नष्ट होता है, कुल का नाम डूबता है, इज्जत मे बट्टा लगता है, लोकनिन्दा से अनेक कष्टो का सामना करना पडता है। यह लोक और परलोक दोनो बिगड़ जाते हैं।

यह अनावश्यक सभी विषय त्याज्य हैं, इनकी ओर हमारी कभी दृष्टि भी नही जानी चाहिये। क्योंकि यह सभी पतन के कारण हैं। आवश्यक विषय हैं चक्षुइन्द्रिय से देव-गुरु आदि के दर्शन करना, स्वाध्याय करना आदि धार्मिक सभी विषय, जिनके निमित्त से दिखने लगता है मुक्तिपथ। अगर इस मनुष्य जन्म को सफल बनाना चाहते हैं और देखना चाहते है अपने को आप मे, तो चक्षुइन्द्रिय की चञ्चलता को रोक ले।

कर्णेन्द्रियसंयम

> **राग शब्द अति रुचत है, रुचें न हितके बैन।**
> **अन्तरकी धुनि जो सुनें, तो प्रगटे सुख चैन ।।४४।।**

अब की जाती है पाँचवीं कर्णेन्द्रिय विषय की बात। आवश्यक तथा अनावश्यक रूप से इसके विषय को भी दो भागो मे विभाजित किया जाता है। आवश्यक विषय है शिक्षाप्रद बाते सुनना, गृहस्थ-जीवन में रहते हुए धनार्थ

न्यायपूर्वक, व्यापारादि सम्बन्धी बातें सुनना, धर्मप्रेमी भाइयों की बातें सुनना, गुरुओं का कल्याणकारी उपदेश सुनना, शास्त्र सभा मे जाके जिनवाणी सुनना, धार्मिक भजन सुनना, धार्मिक चर्चा आदि का सुनना। अनावश्यक विषय हैं—सिनेमा आदि के कुमार्ग पर ले जाने वाले गाने सुनना, होली आदि के राग भरे गीत सुनना, कोई किसी को गाली दे रहा हो उन्हे रुचि के साथ सुनना, किसी की बुराई सुनना, एकान्त में करते हुए दो व्यक्तियों की गुप्त बात सुनना, अश्लील शब्दो का सुनना, कुमार्ग पर ले जाने वाली चर्चाओ का सुनना, राग-द्वेष को पुष्ट करने वाली कथादि का सुनना।

इन अनावश्यक विषयों का त्याग करने पर हमारे जीवनमें किसी प्रकार की क्षति होने वाली नही, उन्नति अवश्य हो जायेगी। ससार में लोगो के बीच सम्मान प्राप्त होगा और बच जायेगा हमारा पैसा, जो फिजूल के 'खर्चे' रेडियो, ग्रामोफोन आदि को खरीदने मे व्यय हो जाता है।

कर्ण-इन्द्रिय के और भी विषय हैं, जिनके कारण से हम अपना अहित कर लेते हैं, दुर्गति के पात्र बन जाते हैं, की हुई रत्नत्रय के द्वारा धर्मरूपी कमाई को खो बैठते हैं। वह हैं—अपनी प्रशसा सुनकर आनन्द मनाना, ख्याति लाभ की इच्छा का अन्तरङ्ग मे भाव उठना, विरोधी जनो के द्वारा अपनी निन्दा सुनकर क्रोधरूपी ज्वाला मे जल उठना। मुक्तिपथ की ओर चलने के लिए हमें कर्णेन्द्रिय के अहितकारक विषयो का पूर्णत त्याग करना होगा, तभी कहलायेगे कर्णेन्द्रिय-विजयी व सयमी।

मन-इन्द्रिय-संयम

> **मन चंचल मन कुटिल है, मन ही से भव घोर।**
> **मनको यदि बसमें करे, निज घर होवे भोर ॥४५॥**

इन्द्रियो के संयम की बात हो चुकी, अब कही जाती है, इनके स्वामी मन इन्द्रिय-सयम की बात। जिसके बिना इन्द्रिय कुछ भी कार्य नही कर सकती, उसके परास्त होने पर परास्त हो जाती है: उसके मात देने पर मर जाती हैं, उसके बलिष्ठ होने पर बलवान हो जाती है, उसको वश मे करने पर स्वत: ही वश मे हो जाती है। अत. इन्द्रिय सयम की पूर्ति के लिए मन-इन्द्रिय को वश में करना अत्यन्त अनिवार्य है, इसको वश मे जब तक नही किया जायेगा तब तक इन्द्रिय सयम हो ही नही सकता।

जिस प्रकार पहले देवपूजादि में अन्तरङ्ग तथा बाह्य का विवेचन किया है, उसी प्रकार यहाँ भी दो विषय हैं। इन्द्रिय सयम के बाह्य विषय उन्हे कहते हैं, जिनके द्वारा मात्र उनके विषय सम्बन्धी पदार्थों को ग्रहण किया जाय और अन्तरङ्ग विषय हैं उन ग्रहण किए हुए पदार्थों के प्रति मन की अन्तरङ्ग आसक्ति,

रुचि व लगावका होना। मन-इन्द्रिय को वश में करने के लिए पांचों इन्द्रियों के दोनों अन्तरङ्ग व बाह्य विषयों का त्याग करना। तभी मनरूपी हाथी को, विवेकपूर्वक किये गये इन्द्रिय-विषय के त्यागरूपी अंकुश के द्वारा वशमें किया जा सकता है। पाचों इन्द्रियो का निग्रह करने पर निश्चल रीति से, अटलता से ही सयम-पालन हो सकता है। कन्नडी भाषा में किसी कवि ने कहा है कि पाँचों इन्द्रियों को वशीभूत किये बिना, सयम का पालन नही हो सकता।

हुवनिशा कोडुवकिन्द्रिय वर्गव नबिचल नागिर बेकु।

भवन किं विन राय स्वर्गके वाड़िषदिवी जीन्द्र णेनिसर बेकु॥

पाचो इन्द्रियोका विषय मिलकर ही मन-इन्द्रियका विषय बन जाता है। अतः मन-इन्द्रियको वश मे करनेके लिए, इन्द्रियसयम का पालन करने के लिए इन्द्रियो के अनावश्यक विषयो का त्याग करें, इच्छाओ का निरोध करें। इस प्रयास से गृहस्थसम्बन्धी किसी चर्चा मे बाधा आना सम्भव नही। उन समस्त अन्तरङ्ग विषयों का यथायोग्य त्याग विवेकपूर्वक सावधानी के साथ निर्बाध रीति से जीवनमें उतारने का नाम ही मन-इन्द्रिय-सयम है।

मनरूपी घोड़ा निरन्तर दौड़ लगाता रहता है। इन्द्रियां वश में न रहने के कारण उसका कहा करतो रहता हैं। यह मनरूपी अश्व तभी वशमें हो सकेगा जब उसके ऊपर विवेकरूपी सवार बैठ कर इच्छानिरोधरूपी लगाम को अपने हाथ में थामेगा। बस, फिर हो जायेगा मन-इन्द्रिय-सयम, मिल जायेगा मार्ग मोक्षका अपने आप।

प्राणि-संयम

रक्षा करि सब जीवकी, प्राणी संयम होय।

सांची रक्षा आत्मकी, फेरि नहीं भव होय॥४६॥

मुक्तिपथकी ओर ले जानेवाले सवरके अङ्ग संयमकी बात चल रही है। यह संयम दो भागों में विभक्त है, एक है इन्द्रिय-सयम, दूसरा है प्राणि-सयम। अभी तक इन्द्रिय-संयम की बात हुई, अब की आयेगी प्राणी-सयम की चर्चा। प्राणी-सयम अर्थात् अपने जीवन की हर प्रवृत्ति में सावधानी रखना, कि हमारे द्वारा किसी के प्राण न पीड़े जाये, किसी जीव को कष्ट न पहुंचाया जाये।

प्राण और प्राणी

यहां प्राण शब्दका अर्थ भी समझ लेना उचित होगा। जिसके बिना जीव जीवित न रह सके उसे प्राण कहते हैं। निश्चयनय से तो चेतना को ही प्राण समझना चाहिए, परन्तु व्यवहारनय से पचेन्द्रिय सज्ञा की अपेक्षा प्राण दस कहे

जाते हैं। पांच इन्द्रिय–स्पर्शन, रसना, नासिका, चक्षु और कर्ण। तीन बल–मनोबल, वचनबल, कायबल तथा आयु और श्वासोच्छ्वास। प्राणी को छूकर जानने की शक्ति अर्थात् स्पर्शन इन्द्रिय, चख कर जानने की शक्ति अर्थात् जिह्वा-इन्द्रिय, सूंघकर जानने की शक्ति अर्थात् नासिका इन्द्रिय, देखकर जानने की शक्ति अर्थात् नेत्र-इन्द्रिय और सुनकर जानने की शक्ति अर्थात् कर्णेन्द्रिय। विचारने की शक्ति अर्थात् मनोबल, बोलने की शक्ति अर्थात् वचनबल, व शरीर को हिलाने-डुलाने की शक्ति अर्थात् कायबल, इस शरीर के एक निश्चित समय तक रहने की शक्ति अर्थात् आयु, तथा श्वास लेने की शक्ति अर्थात् श्वासोच्छ्वास। इन प्राणधारी जीवो को हमारी किसी भी प्रवृत्ति से किसी भी प्राणी के इन दस प्राणो मे से कोई एक भी प्राण विनाश को प्राप्त न हो, अथवा तनिक भी बाधित न हो, ऐसी सावधानी का नाम है प्राणि-सयम।

त्रस अरु थावर योनिमें, जीवन अनन्त प्रमाण।
प्राणी संयम है वही, हरो न उनके प्राण ॥५७॥

जीव जाति

प्राणिसयम के पालनार्थ हमें उन प्राणधारी जीवो को भी जानना आवश्यक है, क्योंकि जब तक उन जीवो के भेद-प्रभेद नही जानेगे तब तक उनकी रक्षा कैसे की जा सकेगी ? हम कई जाति के जीवो को जानते हैं, जैसे—मनुष्य, गाय, भैंस, ऊँट, हाथी, घोडा, कबूतर, मेढक, सर्पादि। परन्तु इनके अलावा भी ससार मे अनन्त जीव भरे पडे है जिन सबके नाम तो दूर रहे माइक्रोस्कोप के द्वारा देखना भी सम्भव नही।

कुछ जीव चार ही प्राणो के धारी हैं, कुछ छहके, कुछ सातके, कुछ आठ के, कुछ नौ के और कुछ दस के। इस प्रकार जीवो के छह भेद हुए।

स्थावर

चार प्राण के धारी वह जीव हैं, जिनके अन्दर मात्र छूकर जानने की शक्ति है। उनके स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास यह चार प्राण रहते हैं। उनके कुछ नाम इस प्रकार है—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। पृथ्वीकायिक जीव वह कहलाता है जिसका पृथ्वी ही शरीर हो, जैसे पर्वत, खदाने, जमीन आदि। जलकायिक जीव वह कहलाता है जिसका जल ही शरीर हो, जैसे नदी, समुद्र, तालाबादि में स्थित जल। अग्निकायिक जीव वह कहलाता है जिसका शरीर अग्नि का ही है, जैसे जलती हुई भट्टी, चूल्हा, हीटर, बिजली, स्टोप आदि। वायुकायिक जीव वह है जिसका शरीर पवन हो, जैसे चलती हुई हवा, पंखे की हवा,

बीजनीकी हवा आदि। वनस्पतिकायिक जीव वह कहलाता है जिसका शरीर वनस्पति ही हो, जैसे पीपल, नीम, बबूल, केर, आम, अनार, नीबू, सन्तरा मौसम्मी आदि के वृक्ष, कोला, विया, तोरई, तरबूज, ककड़ी आदि की बेलें, टमाटर, बैगन आदि के पेड, गाजर, मूली, लहसन, प्याज, सलगम, धनिया आदि अनेक जमीन में उत्पन्न होने वाले पेड़ पौधे सभी वनस्पतिकाय जीव कहलाते हैं। इन सब जीवों को स्थावर भी कहते हैं।

जिन जीवोंके अन्दर चलने, बोलने व चखनेकी शक्तिमात्र पाई जाती है, उसे छः प्राणोंका धारी जीव कहते हैं, लट, कॅंचुआ आदि। जिन जीवो के अन्दर सू घने की शक्ति भी विद्यमान है वह सात प्राणके धारी कहलाते हैं, जैसे चिंवटी आदि जिन जीवो के अन्दर देखने की भी शक्ति पाई जाती है वह आठ प्राण के धारी होते हैं, जैसे भौरा, मक्खी, मच्छर आदि। जिन जीवो के सुनने की भी योग्यता होती हैं वह नौ प्राण के धारी होते हें उनके नाम हैं कुछ जाति के सर्पादि। जिन जीवो के मनोबल अर्थात् हिताहित का विवेक होता है उन्हे दस प्राणधारी कहते हैं, उनके नाम हैं, जैसे-मनुष्य, हाथी, घोडा, तोता आदि। इन सभी दो इन्द्रियसे लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त जीवो को त्रस कहते हैं। इसी प्रकार यह संसार जीवराशि से भरा पडा है। अनन्तजीव तो ऐसे सूक्ष्म हैं जो देखे ही नही जा सकते, अगर इन सबका वर्णन जानना हो तो देखो गोम्मटसारादि-ग्रन्थों मे। जीवजाति को जाने बिना उनके प्रति दया कहा से हो सकती है, उनकी रक्षा कहा से हो सकती है, मात्र जीव-जीव कहने से क्या जीव रक्षा हो सकती हैं? कभी नहीं। यही किसी कवि ने कहा है—

जीव-जीव सब कोई कहें, जीव न जाने कोय।
जीवजाति जाने बिना, दया कहां से होय॥

अभी तक कतिपय लोगोकी मान्यता थी कि मात्र एक मनुष्यमे ही जीव (आत्मा) है, फिर यह भी कहने लगे कि गाय मे भी जीव है। धीरे-धीरे और जाति के जीवों को भी स्वीकार किया है। आज के विज्ञान को ले तो यहां तक सिद्ध करके दिखा दिया कि पेड-पौधे मे भी जीव पाया जाता है।

इन जीवोंकोइन्द्रियकी अपेक्षा पांच प्रकारका मानते हैं-एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय व पचेन्द्रिय। त्रस और स्थावरकी अपेक्षा से पाच स्थावर और चार त्रस के भेद किये। प्राण एव कायकी अपेक्षा छह प्रकारके हैं। प्राण— एकेन्द्रिय के चार प्राण, दोइन्द्रियके छह प्राण, तीनइन्द्रियके सात, चार इन्द्रियके आठ एवं पाच इन्द्रिय असंज्ञी की अपेक्षा नौ तथा सज्ञीकी अपेक्षा दस प्राणो युक्त जीव होते हैं। काय— पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक,

और वनस्पतिकायिक, छठा है त्रसकायिक, जो दोइन्द्रिय लट आदि से लेकर पंचेन्द्रिय मनुष्यादि पर्यन्त है।

प्राणिघातसे बचनेके लिए

मुक्तिके अर्थ अपने जीवनमें प्राणि-संयमको अपनानेके लिए कुछ जीवोंके भेद तो समझमें आये! इन समस्त जीवों के प्राणों की रक्षा का अपने जीवन में हर समय विवेक रखना, उन्हे किसी प्रकार की तकलीफ नही पहुचाना ही प्राणि-संयम है। अब यह देखना है हमें कि इन समस्त जीवों को हमारी किस-किस प्रवृत्तिसे पीड़ा पहुचती हैं? जब तक यह समझ मे नहीं आयेगा तब तक उन प्रवृत्तियों को, जिनसे प्राणिघात होता है, उनका कैसे त्याग कर सकेंगे, उनसे अपने को कैसे मोड़ सकेंगे?

प्राणघात पांच पापोंके कारण

हिंसा चोरी झूठ जो, संग कुशील महान।
यह दु:खके कारण कहे, त्याग बनों गुणवान ॥४८॥

प्राणघातकी सर्व प्रवृत्तियोको पाँच कोटियोमे विभाजित किया जा सकता है। आचार्यों ने इन्हें पाँच पाप भी कहा है। प्राणघात होता है हिंसा के द्वारा, असत्य के द्वारा, चोरी के द्वारा, व्यभिचार सेवन के द्वारा और संचय अर्थात् अनावश्यक धनादिको एकत्रित करने के द्वारा। प्राणियों की पीड़ा के कारण होने से यह पाचो प्रकार की हमारी प्रवृत्ति पापरूप ही है। अब यहा इन सबको अलग-अलग कर बताया जा रहा है। ध्यानसे समझे बिना इनसे छुटकारा मिलना असम्भव ही है। अत: इन पाचोंका भली प्रकार ज्ञान कर इनकी ओरसे अपने जीवन को मोड ले, तभी होगा प्राणि-सयम, तभी मिलेगी सुख की एक झलक, मुक्ति का मार्ग, शान्ति की लहर।

हिंसा-प्रवृत्ति

दुख देना मन वचन से, किसी जीव को जोय।
ए ही हिंसा पाप है, स्वपर तजें शिव होय ॥४६॥

पशु-पक्षी व मनुष्य को तो बाँधकर, पिंजरेमें बन्द करके या कैदखाने में डालकर अथवा उनका वध करके, या किसी एक इन्द्रिय व शरीरके किसी अगो-पांगको काटकर, छेद-भेदकर, अधिक भार लादकर या उनकी शक्तिसे अधिक व अधिक समय तक काम लेकर, क्रोध, द्वेष व प्रमाद के कारण समय पर आहार-पानी न देकर अथवा कम देकर, खोटे वचन बोलकर, गाली आदि अहित कारक शब्द बोलकर इन प्राणियों के दिल को दुखाना, कष्ट देना

हिंसा है और छोटे प्राणियों की भी हर समय विवेक शून्य काम करने के कारण हिंसा करते रहते हैं, जैसे रात्रि भोजन करते समय, पानी छानकर न पीते समय, रास्ते में नीचे देखकर न चलते समय, बिना देखकर वस्तु रखते-उठाते समय। इसी प्रकार के अनेकों कार्यों में हिंसा होती है। अतः हम विवेक पूर्वक प्रमाद-रहित कार्य करें। इस घोर दुःख-सागर मे पटकने वाली हिंसा का त्याग कर अपने को पूर्ण अहिंसक बनाने का प्रयत्न करें।

असत्य प्रवृत्ति

अहित करनके भावसे, जो वच बोले होंय।
ज्ञानी कहते झूठ हैं, तजें सत्य पद होय ॥५०॥

अब कहते हैं असत्य प्रवृत्ति को। क्रोध के वश कहे जाने वाले कटु व तीखे या गाली के शब्द, द्वेषवश कहे जाने वाले व्यंगात्मक शब्द; लोभवश कहे जाने वाले छल-कपट भरे शब्द, हँसी-ठट्ठे में कहे जाने वाले कुछ अनिष्टकारी शब्द। मानवश किसी को अपशब्द बोलते हुए कहना कि किसी पद के योग्य नहीं है, इस प्रकार के कटु शब्द बोलकर किसी के दिल को दुखाना और चुगली के, निन्दा के अनिष्टकारी या खुशामद के शब्द बोलकर, झूठे कागज व दस्तावेज आदि बनाकर, किसी की अपने पास रखी हुई रकम आदि धरोहर को दबा जाना या उसका स्वामी उसे भूल गया हो व पूरी याद न रही हो, तथा लेने आवे तो कम मागता हो या उस समय उसे पूरी याद न रही हो, उस समय उसे पूरी याद दिलाने मे चुप खेंच जाना, किसी का रहस्य स्वय उसके द्वारा बताया हुआ अथवा अपने आप ही किन्ही अन्य कारणो से या उसकी मुखाकृति आदि भावो से जाना हुआ प्रगट करके, इसी प्रकार के अन्य वचन सम्बन्धित अनेकों विकल्पो मे से किसी के अन्तर-प्राणो को अर्थात् मानसिक प्राणो को पीडा पहुँचाना इत्यादि प्रवृत्ति का नाम है असत्य प्रवृत्ति। मात्र झूठ बोलने को ही असत्य नही कहते, बल्कि प्रत्येक अनिष्ट व कटु वचन भी वास्तव में असत्य ही है। सत्य वचन भी हो परन्तु उससे किसी का अहित हो, धर्म से कोई विचलित होता हो, अथवा किसी की जान खतरे मे पडती हो तो वह वचन भी असत्य ही है। अगर चाहते हैं आनन्द की लहर तो असत्य महापाप का अभी से त्याग कर दे।

चोरी

परवस्तुकी भावना, निज करने की होय।
चोरी ये सबसे बड़ी, तजे साधु पद होय ॥५१॥

अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करने के लिए प्राणियो ने जो धनादिका

संचय किया है वह सभी कहलाता है उनका खजाना या धन। धन को प्राणियों का ग्यारहवां प्राण कहा है। कभी-कभी तो यहा तक देखा जाता है कि धन के पीछे मनुष्य अपने दस प्राणो को भी दे बैठता है। धन का अर्थ मात्र पैसा नही है, इसमे सभी सगृहीत वस्तुएँ हैं। इनमे से किसी भी चीज को रात्रि मे ले आना, बिना पूछे ले आना, धोखा देकर ले आना, बिना कहे ले आना, जबरदस्ती ले आना, किसी के घर अच्छी वस्तु देखकर यह कहकर कि यह तो मुझे अच्छी लगती है, तो धनी तो कह ही देगा कि ले जाओ—परन्तु अन्तरङ्ग से नही, ऐसी वस्तु का ले आना, चोरी करने का उपाय बताना, चोरी करनेके औजार बनाना, चोरी का माल खरीदना, राज्य की चोरी करना, किसी की पडी हुई वस्तु को उठा लेना, इन समस्त कार्यों का करना चोरी कहलाता है। जिस प्राणी की चोरी या उसके साथ ठगी की जाती है, उसके प्राणो को बहुत बड़ी ठेस लगती है, उसके मारे वह जीवन भर कराहता रहता है। अत. चोरी का त्याग होने पर ही सयमी बन सकते हैं।

अब्रह्म

निज—आतमको छोड़के, परनारिनका संग।
इसे कहें व्यभिचार ही, रावणसे भये भंग ।।५२।।

परस्त्री के साथ रमण करने को कहते है अब्रह्म, कुशील, व्यभिचार। इसके अलावा किसी सुन्दर स्त्री के रूप को विकार भावो से देखना, उसके साथ एकान्त स्थान मे वार्तालाप करना, हँसी मजाक करना, पास मे बैठना, पास में सोना, अपने किसी अंग विशेष को उसके अंग से बार-बार छूना, उसके किसी अंग विशेष की ओर देखते रहना, यह सब कहलाता हैं कुशील, अब्रह्म। क्योंकि ऐसा करने से पूर्व मे भोगे हुए भोग याद हो आते हैं। पशुजाति की, चित्रो मे व पाषाण की नारी आदि को भी रागभाव से देखना ही कुशील ही है। कुशील-सेवन से सूक्ष्म प्राणियों का तो घात होता ही है परन्तु कुशील-सेवन वाले के माता, पिता, भाई आदि के प्राणो को कितनी ठेस लगती है, उस चोट को वही जान सकते हैं जिन कुलीन घरो के लड़के-लडकी कुशील सेवन करते हैं, दूसरा नही। घोर नरक मे ले जाने वाले इस कुशील नामक पाप का हमे त्याग कर देना चाहिए, तभी मिलेगा मुक्तिपथ।

परिग्रह

आवश्यकतासे अधिक, धन संचयके भाव।
यही परिग्रह पाप है, त्याग लहै निज भाव ।।५३।।

आवश्यकता से अधिक संचय करना कहलाता है परिग्रह। इस परिग्रह-

को दो भागों में विभाजित किया है—एक अन्तरंग, दूसरा बाह्य। अन्तरंग चौदह प्रकार का है और बाह्य दस। अन्तरंग चौदह प्रकार का है—क्रोध, मान, माया, लोभ हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद तथा मिथ्यात्व। बाह्य दस प्रकारका है-चाँदी, सोना,पैसा, अनाज,जमीन,मकान, दासी, दास, कुप्य और वर्तन। इन सभी जाति के परिग्रहों को आवश्यकता से अधिक सचय करने से प्राणिघात होता है। क्रोधादि, कषायो के द्वारा अपना घात और अपने आश्रय आने वालो का घात, मिथ्यात्व के कारण अनन्त जीवों का घात, आवश्यकता से अधिक मकान, दुकान, स्वर्ण, धन, अन्नादि का संग्रह करने से भी प्राणिघात होता है। हम तो मौज करते रहते हैं, घर मे लक्खों मन अनाज आदि भरे, उधर कई प्राणियो को प्राण त्याग देने पडते हैं, इनके बिना तड़प-तड़प के। अधिक सचय होने से हमे भी क्षण भर के लिए आत्मसंतोष नही, आकुलता-व्याकुलताओ मे ही दिन-रात व्यतीत हो जाते हैं। अतः स्वपर प्राणघातक इस सग को त्याग निसगो बन जाये तभी हो सकेगा प्राणि-संयम—जीव-रक्षण।

यह सिद्ध हो गया है कि हमारी जो यह पाँच पापरूप प्रवृत्तियाँ हैं इनके ही द्वारा होता है छोटे-बडे प्राणियो का बध, लगती है जीवो के मन को गहरी ठेस। इनमे मुख्यता है हमारे मन, वचन और कायकी। इन तीनों की प्रवृत्ति के बिना हिंसादि प्रवृत्तियो का होना ही असम्भव है। कभी-कभी जो मन में विचार उत्पन्न होते हैं कि इसे मार दूँ, उसका यह कर दूँ, इत्यादि अनेको विकल्पों के द्वारा जीव हिंसा होती है। अपने मुख से दूसरो को ऐसे शब्द बोलना कि जिसके द्वारा उसका जीव दुःख पावे, यह हुई वाचनिक जीव हिंसा। काय के द्वारा किसी जीव का वध कर देना, प्रमाद के वशीभूत हो उन्हे कुचल देना अपने पैरों से, यह कहलाती है काय के द्वारा जीवहिंसा। इन प्रवृत्तियों में अगर कृत, कारित, अनुमोदना भी की जाय तो भी जीव हिंसा का दोष लग जाता है। जैसे अपने द्वारा करना कायादि की चेष्टा का, किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा कराना प्राणी पीड़न, उनकी हिंसा करते हुए को अच्छा मान उसकी प्रशंसा करना। इन सबको मिला देने से जीव को पीड़ा पहुँचाने के १२६६० भंग होते हैं। इन सभी के द्वारा जीव हिंसा होती रहती है। जीव हिंसा मात्र उसे ही नहीं कहते, जिसमें किसी जीव कोजान से समाप्त किया जाय। जीव हिंसा उसे कहते हैं कि जिन कार्यों के द्वारा हम किसी का दिल दुखाते हैं, उसके मन को किसी प्रकार की ठेस पहुँचाते हैं। अतः यथायोग्य प्राणिसंयम के पालनार्थ उपर्युक्त सभी हिंसादि क्रियाओ का त्याग कर अपने को ले चलें मुक्तिपथ की ओर।

सम्पूर्ण संयम का पालन तो वही शूर-वीर कर सकते हैं जिन्होंने जीत लिया है पांचो इन्द्रिय और मन को, अपना लिया है पांच पापो का त्याग करके महाव्रतो को, करते हैं जो पाँचो समितियों का पूर्णतया पालन, हो गई हैं जिनकी तीनो गुप्ति वश मे, पालन करते हैं जो षट् आवश्यक कर्मों का, तपते रहते हैं द्वादश तपो को निरन्तर कही एकान्त निर्जन वन मे, समभाव को अपना कर कर दिया है राग-द्वेष का त्याग, अपना लिया है दिगम्बरत्व को। परन्तु एक देश सयम का पालन तो हम भी बडी आसानी से कर सकते हैं, जिसके द्वारा हमारे जीवन के किसी भाग मे हानि होना सम्भव नही, जिधर देखे उधर ही लाभ दिखाई देता है।

संयम ख्याति के लिए नहीं

> **ख्याति लाभको छोड़के, सहज धरे जो भाव।**
> **सच्चा संयम है वही, धरि मत चूके दांव ॥५४॥**

संयम लोकेषणा, ख्याति-लाभ, अपनी पूजा-स्तुति करने के लिए नहीं, वह तो है उस अलौकिक, अक्षय शान्ति के हेतु, जिसके लिए कि बडे-बड़े राजा-महाराजा, चक्रवर्ती इन्द्रादि भी तरसते रहते हैं। संयम का पालन करने पर सुख-शान्ति नही मिलती तो समझ ले कि अभी वास्तव मे संयम का पालन किया ही नहीं। संयमी भव्यजीवो के चेहरे पर तो वह तेज दमकने लगता है शान्ति झलकने लगती है, जिसका कथन करना किसी साधारण आदमी के हाथ की बात नही। जो समस्त जीवो को अपना परिवार मानकर चलता है, उनके प्रति वात्सल्य प्रकट करता है, करुणाभाव से सदा उन्हे देखता है, वह सयमरूपी नौका मे बैठ भवसागर से पार उतरता है। उसी समय मुक्ति-कन्या पहना देती है वरमाला उसके गले मे।

> **संयम सहित करो तप ज्ञानी, मिले मुक्ति रानी।**
> **इस दुल्हन की यही सहेली जाने सब ज्ञानी ॥**

पञ्चम आवश्यक कर्म : तप

> **तपसे बढ़ कर जगतमें, सुखका कारण नाहिं।**
> **जो दोनों तपको करें, नाहिं रहें जग माहिं ॥५५॥**

मुक्तिपथ की ओर चलने के लिए व अक्षय आनन्द की प्राप्ति के लिए अभी तक उपाय बताया है—देव-पूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय और सयम। देव-पूजा करने से कुछ शान्ति का अनुभव हुआ, गुरु-उपासनासे और भी कुछ अधिक

आनन्द आया, स्वाध्याय करने से तो मानों हमें साक्षात् ही स्वपर का ज्ञान हो गया हो और संयम का पालन करने से हमें ज्ञात हुआ कि सभी जीव हमारे ही सहोदर हैं, उनके प्रति करुणाभाव की लहर उठ खड़ी हुई तथा जीवन को मोड़ लिया कुपथ से सुपथ की ओर, परन्तु अभी तक पूर्ण शान्ति का अनुभव न हो सका।

स्थायी शान्ति के लिए उन अशुभ कर्मों का आस्रव रोकना होगा जो अशान्ति के कारण हैं, और पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों की निर्जरा करनी होगी। निर्जरा तप के द्वारा होती है, अतः मुक्तिपथ की ओर चलने के लिए हमें तप करना आवश्यक है। पूर्वोक्त क्रियायें भी तभी सफल होंगी जब तप किया जाएगा। इसलिए यहाँ संवर और निर्जरा के कारणभूत तपनामा पंचम आवश्यक कर्म को बताया जाता है।

तप किसे कहते हैं ?

इच्छा जिसमें शान्त हो, ना प्रगटें पर भाव।
उसको जानों श्रेष्ठ तप, कारण सहज स्वभाव ॥५६॥

जिसके द्वारा किसी वस्तु को तपाकर शुद्ध किया जाय उसे ही तप कहते हैं। अर्थात् जिसकी सहायता लेकर किसी वस्तु की कालिमा को हटाया जाये, उसे निर्विकार बनाया जाय, स्वभाव मे लाया जाय, निर्मल बनाया जाय, शुद्ध किया जाय उसे तप कहते हैं। जैसे अग्नि के द्वारा कुन्दन को खरा बनाया जाता है, कालिमा से रहित किया जाता है, स्वभाव मे लाया जाता, उसी प्रकार आत्मा को व्रत, आचरण, ध्यान, स्वपर भेद विज्ञान आदि के द्वारा कर्ममल से रहित किया जाय, भवदुख से बचाया जाय, विकारभाव को हटा दिया जाय, निर्मल कुन्दन जैसा खरा बना दिया जाये उसे ही तप कहते हैं।

तपके भेद

महाव्रती अर्थात् मुनि और अणुव्रती अर्थात् श्रावक की अपेक्षा से तप के दो भेद हैं, क्योंकि महाव्रती तो पूर्णतया तपस्वी होते है और श्रावक इसका पूर्णतया पालन नही कर पाते, अपनी शक्ति के अनुसार करते हैं। अन्तरङ्ग और बाह्य की अपेक्षा से भी इसके दो भेद हैं। छः अन्तरङ्ग व छः बाह्य की अपेक्षा से तप को बारह भेदो मे विभाजित किया गया है। उनका क्रम इस प्रकार से है-अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, कायक्लेश और विविक्त-शय्यासन, यह बाह्य तप के छः भेद हैं और प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त्य स्वाध्याय, कायोत्सर्ग और ध्यान, यह छः अभ्यन्तर तप के भेद हैं। इन

दोनों प्रकार के तपों को मिला देने से इनके द्वादश भेद हो जाते हैं। जो इन द्वादश प्रकार के तपों को तपता है वह अपने को पूर्णतया शुद्ध बना लेता है। अत. हमें अपनी प्रवृत्ति को तपरूप बनाना चाहिए।

तप आवश्यक क्यों ?

द्वादश तपके तपनसे, स्वच्छ होय निज भाव।
जैसे सोना स्वर्णको, करे शुद्ध दे ताव ॥५७॥

"तपसा निर्जरा"–तपके द्वारा निर्जरा होती ही है, और निर्जरा होनेसे ज्ञान दीप जल उठता है। ज्ञान दीप जलनेसे हो जाती है खोज उस मोक्षमार्गकी, जिसके लिए चक्रवर्ती आदि भी हर समय लालायित रहते हैं। इसलिए हम अपना सारा जीवन तपके अन्दर ही लगा दे, क्योंकि यह नरजन्म न जाने किस विशेष पुण्यार्थ के उदयसे मिला है और कुछ ही समयमे नष्ट हो जाने वाला है। कुछ दिन पूर्व यह हमारा शरीर बिलकुल छोटा-सा था। आज बड़ा हो गया है। जोश भी है जवानीका, कुछ दिनके बाद देखते-देखते क्षीण-जीर्ण हो जायगा यही शरीर। फिर पश्चात्ताप होगा यादकर उन जवानी के दिनो को, जो भोगो मे व्यर्थ व्यतीत किये थे। अगर भविष्य को आनन्दमय बनाना चाहते हैं और चाहते हैं सुख बुढ़ापे में, तो यौवन अवस्था को भोगोमे व्यतीत न करें, तप मे लगायें, फिर मुक्तिपथ मिल जायेगा स्वत ही और इस यौवन अवस्था का भी उपयोग हो जायगा। किसी ने कहा भी हैं।

तप करते यौवन गयो, द्रव्य गयो मुनिदान।
प्राण गये सन्यास में, तीनों गये न जान ॥

अगर प्राण सन्यासमे छूट जाय तो कोई हानि नही, सम्पूर्ण द्रव्य समाप्त मुनिदान मे हो जाय फिर भी कोई बात नहीं, और यौवन अवस्था अगर तप करते-करते व्यतीत हो जाय तो इससे बढकर लाभ क्या हो सकता है? कुछ भी नही, क्योंकि यह शरीर तो एक दिन सूख के ठठेरा हो जाने वाला है, चाहे भोगो में सुखा दें, चाहे मुक्ति प्रदायक तप मे। भोगो मे सुखा देने से पछतावा होगा दुर्गतिमे जाके, और संयम के साथ तप मे सुखा देने से करेंगे किलोलें आनन्दसागर मे। अंत: भवसागर के दु.खोसे बचनेके लिए तप करना आवश्यक है, इसके बिना सुख नही।

तप कैसा हो

सम्यक् श्रद्धा व सयम के साथ किया हुआ तप ही मुक्तिपथ की ओर ले जाने वाला होता है, आत्मा को निर्मल बनाने वाला होता है। मात्र तप तो

चाहे हम कितना ही करते रहें। अगर भावों के साथ नही तो वह तप संवर और निर्जरा का कारण नहीं होगा। कर्ममल को नष्ट करने वाला नहीं होगा, आत्मा से विकारो को पृथक् करने वाला नही होगा। वह होगा मात्र आस्रव एवं बन्ध का कारण, राग व द्वेष का कारण, शरीर को क्षीण करने का कारण, नष्ट करने का कारण। अतः हमारा तप ख्याति-लाभ से परे हो, मायाचार से रहित हो, लोगो से पूजा आदि कराने की भावना से रहित हो, समस्त इच्छाओं से रहित हो वही तप वास्तव मे तप कहा जा सकता है, उसके द्वारा ही आत्मशुद्धि सम्भव है। इसलिए हमारा तप थोडा हो क्यों न हो, परन्तु सत्य हो, क्योंकि किसी ने सत्य को भी तप की पदवी दी है—

> सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
> जाके हृदय सांच है, ताके हृदय आप॥

तप इच्छारहित क्यों ?

> इच्छा दुःखका मूल है, अवगुणकी है खान।
> इच्छा तजि तप जो करें, पाते केवलज्ञान॥

He lacks most who longs most.

उसके पास उतनी ज्यादा कमियाँ, जिसकी जितनी ज्यादा आवश्यकताएँ है, अर्थात् इच्छाएँ सर्वथा त्याज्य है, क्योंकि दुःख का मूल है, अवगुणो की खानि है, अनीति की नानी है, भव की निशानी है। इसलिए तप की परिभाषा करते हुए आचार्यो ने कहा है "इच्छानिरोध तप.।" इस लोक और परलोक की समस्त इच्छाओ से रहित होना वही तप कहलाता है। जिस तप के साथ किसी भी प्रकार की चाह न हो वही सच मे तप है। और जो तप किसी इच्छा को लेकर किया जाता है वह तप फलदायी नही हो सकता, क्योकि किसी ने कहा है "बिन मागे मोती मिले, मागे मिले न भीख।" अगर समय अनुकूल नही होता तो चाहे कितनी भी याचना क्यो न करते रहे, परन्तु भीख भी मिलना दुर्लभ हो जाती है। जब समय अनुकूल होता है तब न चाहते हुए भी वस्तु की प्राप्ति हो जाती है। किसी ने कहा भी है कि "याचे उससे भागे और त्यागे उससे आगे" यह उक्ति बिलकुल सच है और अनुभव मे भी आ रही है। अतः हमे तप करते समय किसी प्रकार की इच्छा नही रखनी चाहिए। तप करके किसी लौकिक काम की इच्छा करना व्यर्थ है, क्योकि वह तो उस इच्छा की पूर्ति करने वाला है कि फिर कभी इच्छा उत्पन्न ही न हो, अर्थात् मोक्ष-सुख को देने वाला है। क्या उससे सासारिक सुख की चाह करनी पडेगी ? कभी नही।

जैसे कोई किसान गेहूँ की खेती कर क्या भूसे की याचना कर सकता है? कभी नही। गेहू के साथ भूसा तो स्वतः ही मिल जायेगा। फिर जो तप मुक्ति सुख को देने वाला है उससे संसार के सुख की याचना क्या की जाये? कभी नही, वह तो अपने आप मिलेगा। इसलिए तप को हम मात्र अपना कर्त्तव्य मानकर ही करें। वह तप बना देगा हमारी आत्मा को निर्मल, स्वर्ण से भी पवित्र।

क्या अभी तक तप नहीं किया

इस परिवर्तनशील संसार में अनादिकाल से हम भ्रमण करते आ रहे हैं और अनेक प्रकार की तपस्या भी करते आ रहे हैं। अनेक बार हमने पचाग्नि तप किये, वृक्षो से पैर बांध कर महीनों पर्यन्त उल्टे लटके रहे, वर्षों नीचे को सिर किये तपस्या की, कई दिनो के उपवास भी किये, परन्तु अभी तक नही देखी फलस्वरूप सुख की झलक। यह सभी तप कर्मक्षयार्थ नही थे, एक मात्र लोक में अपनी प्रशसा कराने के लिए ही थे। इसके विषय में एक ख्याति चाहने वाले ढोंगी तपस्वी की कहानी निम्न प्रकार है।

दृष्टान्त

एक सभा लगी थी राजाकी। सभी लोग प्रशंसा कर रहे थे एक तपस्वी साधु की। कि ऐसे साधु महाराज आज तक नही देखे हैं, जो छह छह महीने के तो उपवास कर लेते हैं, हर समय ध्यान में लीन रहते हैं, नीचे सिर किए हुए कितना घोर तप करते हैं!

यह समस्त बातें सुनकर मन्त्री ने कहा—महाराज! यह मुझे तो मात्र ढोंग ही मालूम होता है; क्योकि जो सच्चा साधु होता है वह दिखावटी तप नहीं करता, उसका तो किसी को मालूम ही नही पडता। किसी ने कहा भी है—

चलता दिखे न चन्द्रमा, बढ़ती दिखे न बेल।
साधु दिखे न सुमिरता यह कुदरतका खेल॥

लोगो ने कहा—मन्त्री! आप ऐसे महान् तपस्वी की निन्दा करते हो, जिसकी आरती व पूजा करने समस्त नगरी जाती है और उन्होने अभी छह महीने का उपवास कर रखा है। मन्त्री जी ने कहा—वह उपवास मात्र दिखाने के लिए है, लोगो से प्रशसा कराने के लिए है। अगर नही मानते हो तो उसकी परीक्षा की जाये, खोटा है या खरा, अपने आप मालूम हो जायेगा। यह बात सभी को पसन्द आई और कहने लगे कि उसकी परीक्षा किस प्रकार से करनी चाहिए। मन्त्री जी ने कहा कि कुछ दिन के लिए उनकी पूजा-स्तुति करना बन्द कर दिया जाये और नगर का एक भी व्यक्ति उनके दर्शन के लिए न जाये

और कुछ आदमी छिपकर देखे, फिर मालूम पड़ जायेगा, स्वतः ही उनकी सच्चाई का।

राजा को यह बात पसन्द आ गई और सभी को हुकुम सुना दिया कि आज से कोई नहीं जायेगा। अगर कोई गया, तो उसे दण्ड दिया जायेगा। सभी ने जाना बन्द कर दिया—साधु महाराज के पास। किसीको अपने पास न आया जान साधु को कुछ चिन्ता हुई और देखने लगे नगर की ओर। सारा दिन व्यतीत होने जा रहा है, अभी तक कोई नही आया—पूजा करने वाला, प्रशंसा करने वाला। साधु जी ऐसा विचार करने लगे। तप छोड़ दिया साधु जी ने और जैसे-तैसे रात्रि पूर्ण की। दूसरे दिन भी कोई नही आया उनके तप की प्रशंसा करने वाला। तो फिर देर ही क्या थी, इधर—उधर देखभाल कर छोड़ दिया साधु-वेष और भाग गया नजर बचाके।

लोगों ने राजा से जाकर कहा कि वह तपस्वी, तपस्वी नहीं था, ढोगी ही था। मन्त्री जी ने सच ही कहा था। लोगो के न जाने के कारण तप उपवास छोडकर भाग गया, क्योकि उसके अन्दर सच्चाई नही थी। किसी ने कहा भी है—

> सचाई छुप नहीं सकती, कभी झूठे असूलोंसे।
> खुशबू आ नहीं सकती, कभी कागजके फूलोंसे॥

हमने भी अभी तक ऐसे ही तप अनन्त बार किये, परन्तु फलस्वरूप सुख की झलक नही प्राप्त हुई। अत. हम मोड़ लें ढोग और दिखावे से अपने को और कर दे सम्यक् तप अभी से शुरू

पूर्ण तप कैसे करें ?

गृहस्थी में रहते हुए हम पूर्ण तप का पालन तो नही कर सकते हैं परन्तु शक्ति के अनुसार तप करने मे क्या हमारी कुरबानी हो जायेगी? कुछ भी नही, लाभ अवश्य मिलेगा, इह लोक मे और परलोक मे। आचार्यों ने यह कही नही कहा है कि करने की शक्ति हो या न हो करते जाओ। यह अवश्य कहा है कि हर प्राणी को अपनी शक्तिके अनुसार ही तप-व्रत करना चाहिए, शक्तिसे अधिक नही। शक्ति से अधिक किये जाने वाला तप, तप नही रहता; चारित्र, चारित्र नहीं रहता। इसलिए घबडाने की आवश्यकता नही, शान्ति से समझे और शक्ति को न छिपाते हुए जितना हो सके उतना तप हर समय करते रहे, तो कर्मरूपी ईंधन का जलना शुरू हो जायेगा, मुक्तिपथ पर चलना शुरू हो जायेगा।

पूर्ण तपके प्रतीक

पूर्ण तपस्वी तो उन परम दिगम्बर वीतरागी ऋषिराजोंको ही कहा जा

सकता है जिन्होंने समस्त कषायों को जीत, महाव्रतों को धारण किया है, गृह व कुटुम्बीजनों को त्याग एकान्त वन में वास किया है, और जीत लिया है विषय-भोगों की लालसा को, परे ही गये हैं दोनो प्रकार के संगों से, विरक्त हो गये हैं ससार, शरीर और भोगो से, लीन रहते हैं स्वाध्याय और मनन मे तथा आरूढ हैं चारित्ररूपी नौका में, पार उतर रहे हैं भवसागर से, जाना चाहते हैं पचम-गति को। पूर्ण तपस्वी का विवेचन करते हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार में भी इसी प्रकार कहा है—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥१०॥

जिन्होने विषयरूपी आशाओको वश मे कर लिया है और समस्त प्रकार के आरम्भ-परिग्रह का कर दिया है त्याग हमेशा के लिए, तथा ज्ञान, ध्यान और तप मे सतत् तल्लीन रहते हैं, उन्हे ही पूर्ण तपस्वी कहा जाता है। वही पूर्ण तपस्या करके अष्टकर्मों को दहन कर देते हैं और निर्विकार स्वभाव को प्राप्त होते हैं।

बाह्य तपों से क्या लाभ

बाह्य तपसे बनत है, उर अन्दर के भाव।
कारण आतम ध्यानके, करें लहै निज भाव ॥५९॥

अब उन बाह्य छह प्रकार के तपो का वर्णन किया जायेगा, जिनके द्वारा पूर्ण या अल्प तपस्वी की पहचान होती है, और आभ्यन्तर तप के कारण हैं। अर्थात् इन बाह्य तपो के बिना अन्तरंग तप भी सम्भव नही है, अत हमें श्रद्धाके साथ बाह्य तपो को भी करना चाहिए, तभी हमारा झुकाव होगा अन्तरग तप की ओर। इससे बढकर और लाभ भी क्या चाहते हैं हम ? कुछ भी नही। इस-लिए अन्तरग के कारण बाह्य तपो को हमे अवश्य धारण करना चाहिए।

अनशन तप

अनशनसे उपवास हो, उपसे होवे प्रेम।
क्रोधादिक तजि जो करें, मुक्ति वरे करि प्रेम ॥६०॥

अपनी शक्ति के अनुसार अन्नादि पदार्थों के त्याग को अनशन कहते हैं। कहीं-कही चारो प्रकार के आहार का त्याग भी अनशन कहा गया हैं। इसे उपवास भी कहते हैं। उपवास का तप इसलिए कहा है कि इससे आत्म-शान्ति मिलती है, कषायें कम हो जाती हैं, आरम्भादि से बचकर आत्म-गुण-चिन्तन-

का समय निकल आता है, अतः हमें प्रोषधोपवास अवश्य करना चाहिए। परन्तु यह उपवास तो रोज नही किया जा सकता।

हम उपवास रोज नहीं कर सकते, तो न करें। परन्तु अष्टमी चतुर्दशी के दिन तो गृहकार्य से मुक्त होके कर ही सकते हैं। अगर हम किसी कारणवश पूर्णरूप से अन्नादि का त्याग नहीं कर सकें, तो दिन मे एक समय भोजन करें, फिर त्याग कर दें तो वह भी कुछ समय के लिए अनशन में आ सकता है— अनशन मे अन्न त्यागने से अभिप्राय है जितने समय के लिए अन्न का त्याग किया जाये उतने समय के लिए वह अनशन तप हो जाता है। अनशन करने में भाव त्याग के रहते हैं, और त्याग से ही आत्मा-परमात्मा बन जाता है, सन्तोष को प्राप्त हो जाता है। इसलिए हमे सद्बुद्धि से हमेशा त्याग करते रहना चाहिए।

त्याग बराबर तप नहीं, जो होवे निरदोष।
भविजन कीजे त्याग अब, मिले बड़ा सन्तोष ॥६१॥

ऊनोदर तप

ऊनोदर तप जो करें, नाहि होत परमाद।
सामायिक होगी सही, रोग करे ना याद ॥६२॥

सर्वप्रथम तपो में अनशन तप का कथन किया। अब यहाँ उस ऊनोदर तप को बताया जा रहा है जो हमारे जीवन मे अत्यन्त लाभदायक है और अनशन से सरल भी है।

ऊनोदर अर्थात् भूख से कम भोजन करना। भोजन करते समय पेट को खाली रख लेना ऊनोदर नाम का द्वितीय तप है। सामने आये हुए मिष्ट व नमकीन पदार्थों की ओर से पेट भरने से पूर्व ही मुख मोड़ लेना, इच्छाओ का निरोध है, और इच्छाओ के निरोध को ही तप कहते हैं। कम भोजन करने से पेट हल्का रहता है, पेट हल्का रहने से प्रमाद नही सताता। प्रमाद के न आनेसे हमारे आवश्यक कार्यों में किसी प्रकार की बाधा नहीं होगी। आवश्यक कार्यों में बाधा न होने से कुछ धर्म-ध्यान, आत्म-चिन्तन हो सकेगा। आत्म-चिन्तन करने से खुल जायेगा मार्ग मोक्ष का, जिसके लिए देवता भी तरसते हैं।

कम भोजन करने से हम उन उदर सम्बन्धी बीमारियों से बच जायेंगे, जिनकी वजह से दिन-रात परेशान रहते हैं और अनाप-सनाप पैसा खर्च करने पर भी नही मिलती रोगों से मुक्ति। अतः हमें भोजन कम ही करना चाहिए, इससे अनेक लाभ हैं। किसी कवि ने भी कहा है—

कम खाना और गम खाना।
हाकिम पर जाना-न हकीम पर जाना ॥

कम भोजन करनेसे रोगोकी उत्पत्ति ही न होगी और रोगों की उत्पत्ति नही होगी तो वैद्य के पास जानेका काम ही क्या ? कुछ भी नहीं। तथा ऊनोदर करने से हमेशा सद्बुद्धि (निर्विकार बुद्धि) बनी रहेगी। सद्बुद्धि से हिताहित का ज्ञान रहता है, हिताहितका ज्ञान होने पर क्रोध आने पर भी गम खाके रह जायेंगे तो न किसी से लड़ाई-झगड़े होंगे और न हाकिम के पास जाना पडेगा। इसलिए धर्म-कर्म दोनो मे हितकारी ऊनोदर तप को हम अवश्य करते रहें, अगर अपना हित चाहते हैं तो।

वृत्तिपरिसंख्यान तप

अनशन और ऊनोदर तपको तो हम इसलिए अपनायेंगे कि वह जीवनमें हर समय लाभदायक है, वृत्तिपरिसंख्यानसे हमे क्या लाभ हैं और कैसे करें ? वृत्तिपरिसंख्यान तपका पूर्णरूपसे तो वही मुनिराज पालन करते हैं जो तेरह प्रकार के चारित्र मे विभूषित हैं, क्योंकि जब वह आहार लेने के लिए किसी नगर या ग्राम की ओर जाते हैं तब अपने मन मे यह दृढ प्रतिज्ञा कर लेते हैं कि आज ऐसा आहार या अमुक ही मिलेगा, तो लेंगे, अन्यथा नही, तथा अमुक घरमे अमुक विधि मिलेगी या अमुक वस्तु मिलेगी, तो आहार करेंगे अन्यथा नही।

हम भी वृत्तिपरिसंख्यान तपका पाल कर सकते हैं। जब भोजन करने के लिए हम बैठे तो यह विचार करले कि आज अमुक सब्जी मिलेगी, तो भोजन करेंगे या अमुक-अमुक वस्तुएँ मिलेगी, तो भोजन करेंगे अथवा एक बार का परोसा हुआ ही भोजन करेंगे या मौन लेकर भोजन करेंगे किसी वस्तु को इशारे से भी नही मागेंगे, थाली में जैसा रूखा-सूखा भोजन आ जायेगा, वैसा ही कर लेंगे। ऐसे नियम करने को वृत्तिपरिसंख्यान तप कह सकते हैं। इस तपके द्वारा भी इच्छाओ का निरोध होता है, अन्य पदार्थों की ओर से मन रुक जाता है और मनका रुकना भी तपकी कोटिमे आता है। अत. हमे वृत्तिपरिसंख्यान तप हमेशा करना चाहिए।

रसपरित्याग तप

रसना इन्द्रिय वशकरण, रससे ममता छोड़।
तप यही रस-त्याग है, निजसे नाता जोड़ ॥६३॥

अब चलती है बात उस चतुर्थ रसपरित्याग तपकी, जिसके द्वारा रसना

इन्द्रियको वशमें किया जाता है। छह रसों का अथवा एक दो रसों का त्याग करना ही रसपरित्याग नामक तप कहा जाता है। छह रसो के नाम इस प्रकार हैं—दूध, दही, घी, नमक, मीठा और तेल। इन सबमे से किसी न किसी रस का हमे प्रत्येक दिन त्याग करना चाहिए। रसपरित्याग का द्वितीय तरीका शास्त्रो में इस प्रकार भी बताया है कि— रविवार के दिन नमक का त्याग, सोमवार के रोज हरी का त्याग, मंगलवार के दिन मीठे अर्थात् गन्ने का रस वा उससे बने हुए समस्त पदार्थों का त्याग, बुधवार के दिन घी का त्याग, गुरुवार के दिन दूध व मलाई का त्याग, शुक्रवार के दिन दही का अर्थात् बिना घी निकाले दही का त्याग और शनिवार के दिन मूंगफली खोपरादि के तेल का त्याग। अपनी शक्तिके अनुसार हमे रसोका त्याग हर एक रोज करना चाहिए। यह क्रम भी कितना सुन्दर है। रसो का त्याग करने से रसना वश में रहती है और त्याग न करने पर यह चटोरी बन जाती है तथा मनके पीछे-पीछे भागती है। अत: रसना इन्द्रिय को वशमे करने के लिए रसपरित्याग तपको हम अवश्य करे, क्योंकि त्याग करने से मन वशमे हो जाता है और त्याग से ही आत्मा परमात्मा बन जाता है।

कायक्लेश तप

कायासे ममता हटे, निज गुण अनुभव कीन।
ये ही कायोत्सर्ग है, आतममें हो लीन ॥६४॥

आत्मगुणो की प्राप्तिके लिए मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिको रोक किसी एक आसन से नियमित समय तक बैठना कहलाता है कायक्लेश नामक तप। सुबह-शाम, पद्मासन, वीरासन, खड्गासनादि को लगाकर ध्यान करना, आत्म-गुणों-का चिन्तन करना और उपवास करना, बाईस परिषहों का सहना आदि सभी शरीर को क्लेशदायी कार्य कहे जाते हैं काय-क्लेश। काय-क्लेश तप दो प्रकार का होता है, एक तो वह जिसमे शरीरको कष्ट देने की, सुखाने की ही क्रियायें की जायें और दूसरा वह जिसमे सम्यक् सहित वस्तुस्वभावकी प्राप्ति हेतु शरीर के द्वारा पुरुषार्थ करना, शरीर को क्षीणकर आत्मबल बढाना, रागद्वेष के पग तोड़ने के लिए आरम्भादि का त्याग कर उपवासादि अनेक क्रियायें करना। जो मात्र बाह्य अर्थात् आत्मा को जाने बिना, क्रोधादि को त्यागे बिना काय-क्लेश तप को करते हैं वे उस तपके द्वारा कर्मोंको नहीं दहन कर सकते, भवोदधि से पार नहीं हो सकते। अत: हमे कायक्लेश तप अवश्य करना चाहिए। परन्तु आत्म अर्थात् जीव के स्वभाव को जानकर ही करना चाहिए। तभी होगी प्राप्ति उस असीम आनन्द की, कि जिसके लिए सुरपति, नरपति

सभी तरसते रहते हैं। काय-क्लेश का अन्तिम फल है, आत्म-शान्ति, स्वभाव-प्राप्ति, क्योंकि ज्ञानियो का आशय शरीर को कष्ट देना नही है, उनका लक्ष्य है आत्म तत्त्व की प्राप्ति। हमे भी आत्म-शान्ति के लिए, मोक्ष-प्राप्ति के लिए पचम काय-क्लेश तप को अवश्य करते रहना चाहिए।

विविक्त-शय्यासन तप

अभी तक बाह्य पाच तपो को बताया, अब बताया जाता है यहा छठे विविक्त शय्यासन तप को। आत्म कल्याणार्थ किसी एकान्त अर्थात् स्त्री, तिर्यंच, नपुसकादिको मे रहित वन या गुफा मे एक करवट से सोना कहलाता है—विविक्त-शय्यासन-तप। हम गृहस्थ होने के कारण वन में, गुफा आदि मे ककरीले आदि स्थान पर तो शयन नही कर सकते। यहा यह नही बताया जा रहा है कि आप ऐसा ही कीजिए। अगर ऐसा कर सकते हैं तो कीजिए, कोई मना भी नही। यहा तो वह तप बताया जा रहा है, जिसे श्रावक घर में रहकर भी अच्छी तरह से पालन कर सके।

शरीर मे ममत्व बुद्धि हटाकर कम से कम अष्टमी, चतुर्दशी, दशलक्षणादि पर्वों के दिन मे तो हम बिस्तरो को छोड किसी एकान्त स्थान मदिरजी मे जमीन, चौकी, चटाई आदि के ऊपर सोकर रात्रि व्यतीत करे तो वह कहलाता है विविक्तशय्यासन तप। घर मे भी कभी बिस्तर, चारपाई आदि न मिले फिर भी समभाव मे सामायिकादि करके सानन्द रात्रि व्यतीत करना आदि भी कहा जाता है विविक्तशय्यासन तप। इस तप के बिना शरीर से ममत्व नही छूटता। शरीर से ममत्व हटे बिना—आत्मा का यथार्थ स्वरूप नही जाना जा सकता। आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जाने बिना चलना कठिन है मुक्ति-पथकी ओर। इसलिए हमे प्रत्येक दिन अपनी शक्ति के अनुसार तप अवश्य करना चाहिए। तभी होगा सार्थक नरजन्म का पाना और उत्तम कुल मे उत्पन्न होना।

अन्तरंग तप

मोक्षमूल साक्षात् है, अन्तर तप वह जान।
निश्चय अनुभव होत है, प्रगटे केवलज्ञान॥

अभी तक बताई गई उन बाह्य तपो की बात, जिनके द्वारा पांचों इन्द्रियो को वश मे कर आरोग्यताको प्राप्त हो किया जाता है आत्म-चिन्तन। अब की जायेगी बात उन अन्तरग तपोकी, जो बाह्य तपोके साथ-साथ अन्तरङ्ग मे काम करते रहते हैं। उनकी परख बाह्यसे नही की जा सकती, वे तो भावों पर निर्भर रहते हैं। अन्तरङ्ग तप कर्ममलको जड से नष्ट कर देते हैं, आत्माको निर्मल बना देते हैं, यही मुक्ति-पथ पर लगा पूर्ण शान्ति प्रदान करते हैं। अतः

हमें अपने परम उपकारी-अन्तरङ्ग तपों को पूर्ण भावों के साथ हर समय करते रहना चाहिए, अगर बनना है नर से नारायण, इन्सान से भगवान् तो।

प्रायश्चित्त तप

मन वच तनसे दोष जो, कीने जान अजान।
गुरु समीप जाके तजे, प्रायश्चित उर आन ॥६६॥

प्रायश्चित तप उसे कहते हैं जिसमें जाने या बेजाने में कुछ गलत काम हो जाये, उस गलती को स्वतः गुरु को बताके, गुरु जो कुछ दण्ड दे उसे आदर के साथ स्वीकार कर, लगे हुए दोषो के प्रति ग्लानि पैदा कर फिर कभी उस प्रकार की गलती न करना। यह तप भावों की निर्मलता के बिना नहीं होता। इस तप का पूर्ण रूप से पालन करना तो उन महामुनियो का ही काम है जिनने रागद्वेष का त्याग कर बना लिया है अपनी बुद्धि को बालकवत्। हम भी अपनी योग्यता के अनुसार इस तप का पालन कर सकते हैं। धार्मिक या गृहस्थी सम्बन्धी किसी भी प्रकार के कार्य करते समय हमसे किसी प्रकार की छोटी या बड़ी गलती हो जाये तो अगर नगर मे दिगम्बर गुरु विराजे हो तो उनके समक्ष समस्त गलतियो को हमे कह देना चाहिए। ताकि उस गलती के अनुसार प्रायश्चित्त देकर गुरु पापमुक्त करेगे। अगर गुरु न हों तो, त्यागी व्रती हो, तो उनसे, अगर वह भी न हो तो योग्य चारित्रवान् पण्डितो को या अपने से बड़ो को, साथ लेकर भगवान् की साक्षी से प्रायश्चित करना चाहिए और उस हुई गलती को फिर कभी नही करना, माता-पिता के प्रति भी किसी प्रकार की गलती हो जाये तो उनसे भी माफी माँगना कहा जायेगा प्रायश्चित्त तप। इस तप को मुमुक्षु जीव ही कर सकते हैं, क्योकि उनके सिवाय अन्य किसी भी प्राणियो के मन मे सरल भाव नही आ सकते, पापो से भयभीत नही हो सकते। और सचाई के आये बिना, पापो से विरक्त हुए बिना सही रूप से या सच्चा प्रायश्चित्त नही हो सकता। इस प्रायश्चित्त तप के बिना पूर्व में किये हुए पापभार को नही उतारा जा सकता। पूर्व पापभारको उतारे बिना असीम पुण्यलक्ष्मी नही आती। असीम पुण्यलक्ष्मी की प्राप्ति के बिना मुक्तिलक्ष्मी भी नही प्राप्त हो सकती। अत. हमें प्रत्येक गलती का प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिए, तभी मिलेगी अक्षय शान्ति और आनन्द।

विनय तप

विनय गुणीजन करत हैं, त्याग लोभ अरु मान।
विनय बिना निज ना लखें, विनय महा तप जान ॥६७॥

अभी की बात उस प्रायश्चित तपकी, जिसके द्वारा किया जाता है अपने आपको निर्दोष। अब वह विनय तप बताया जा रहा है जो मान को चूर कर आत्मा के नम्र स्वभाव को प्रकट करता है। जो अपने से गुणो मे श्रेष्ठ व आयु मे बडे तथा सर्वपूज्य महापुरुष हैं, उनका मन, वचन, काय से यथायोग्य सत्कार करना ही कहा जाता है विनय तप। यह तप इतना सरल है कि इसका पालन करने मे हमे किसी प्रकार का कष्ट होने वाला नही, किसी काम के अन्दर विघ्न-बाधा आने वाली नही, और लाभ इतना होगा कि जिसे कहकर नही सुनाया जा सकता।

सुबह उठते ही हमे स्नानादि करके जिनालय जाना चाहिए, वहाँ पर भगवान् की भक्ति-पूजनादि करके उनको अष्टाङ्ग या पंचाङ्ग नमस्कार करना, भगवान् जिनेन्द्र के द्वारा कहे हुए और गणधरो के द्वारा गूंथे हुए तथा परम्परा अनुसार आचार्यों के द्वारा रचे हुए शास्त्रो को भक्तियुक्त नमस्कार करना, उनको उच्च-आसन देना, आचार्य-उपाध्याय और महामुनियो को तथा ऐलक, क्षुल्लक, आर्यिकाओ, क्षुल्लिकाओ व ब्रह्मचारियो को यथायोग्य भक्ति और श्रद्धा के साथ नमस्कार करना चाहिए। नमस्कार करते समय मुनियों को नमोऽस्तु, ऐलक व क्षुल्लक को इच्छाकार या इच्छामि, आर्यिका माताजी को वन्दामि, ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणियो को वन्दना। साधर्मी सभी भाइयो को जयजिनेन्द्र। यही कहा जाता है विनय तप। अपने माता-पिता को और विद्यागुरु आदि अपने से ज्येष्ठ परिवारादि के मनुष्यो को नमस्कार करना, उनकी आज्ञा का पालन करना भी कहा जाता है विनय तप। जो भव्य प्राणी पूज्य पुरुषो का विनय करता है तो एक दिन वह भी आकर उस कोटि में खडा होता है जिसमे तीनो लोक के प्राणी उसकी विनय-भक्ति करने लगते है अर्थात् वह कुछ ही समय मे घातिया कर्मों को नष्ट कर केवललक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है। अतः हमें हर समय पूज्य पुरुषो की विनय करते रहना चाहिए तो हमारी आत्मा का विनय गुण है वह प्रकट हो जायेगा और एक समय वह भी आ जायेगा जब हम कर सकेंगे पूर्ण शान्ति का अनुभव।

वैय्यावृत्ति तप

> **बालक बूढे गुरुनिकी, सेवाके जो भाव।**
> **वैयावृत्ति है वही, नाश करें दुःख भाव ॥६८॥**

विनय तपके पश्चात् आता है नम्बर वैय्यावृत्तिका। वैय्यावृत्ति भी तभी हो सकती है जब हमारे अन्दर विनय होगा। अब यहाँ बताया जायेगा वैय्यावृत्ति तप को। किसी रोग या वेदना से पीड़ित अथवा वृद्धों की सेवा करना

कही जाती है वैय्यावृत्ति। वैय्यावृत्ति करने में हमें किसी प्रकार का कष्ट भी नहीं होगा, दूसरों की खुशी देखकर आनन्द अवश्य आयेगा। परम उपकारी वीतरागी, दिगम्बर, महाज्ञानी, ध्यानी, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधुओं के शरीर में किसी प्रकार की व्याधि हो जाये, और भी किसी कारण से उनको कष्ट हो रहा हो, उस समय पूर्ण उपचार करके उनके रोग व कष्ट को मिटाना ही हमारा परम कर्त्तव्य है- और यही कही जाती है वैय्यावृत्ति। वृद्ध माता, पिता, परिवार आदि किसी दीन दुखी की, किसी आपत्ति में, इन्द्रियाँ शिथिल होने पर उन सबकी भी सेवा हमें अवश्य करनी चाहिए। यह भी कही जाती है वैय्यावृत्ति। सही तो वह भी कही जाती है कि हम अपनी आत्मा को किसी प्रकार के कष्ट में न जाने दें और फँसी भी हो तो उसे निकालने का पूर्ण प्रयत्न करे। यह वैय्यावृत्ति परम तप है, अक्षय सुख को देने वाला है। इसलिए हमें हर समय वैय्यावृत्ति का पूर्ण ध्यान रखना होगा, तभी कर सकेंगे अनादिकाल से लगे कर्मों को दूर अपनी आत्मा से।

स्वाध्याय तप

तप नहिं सम स्वाध्यायके, मनन साथ में होय।
मनन करें मन मिलत है, मनन करें सुख होय ॥६८॥

निज-पर-उपकारी वैय्यावृत्ति तप की अभी तक चर्चा की। अब उस स्वाध्याय तप को दर्शाया जायेगा, जिसको निमित्त बनाकर हम अपना यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। स्वाध्याय का कथन स्वाध्याय आवश्यक कर्म के अन्दर कर आये हैं, फिर भी यहाँ कुछ और किया जा रहा है। स्वाध्याय कहते हैं—शास्त्रों के पढने को। परन्तु शास्त्रों को पढ़कर हम पण्डित अवश्य बन सकते हैं। आत्मचर्चा अवश्य कर सकते हैं, तर्क-शास्त्रार्थ अवश्य कर सकते हैं, पर वास्तव में आत्म-ज्ञान नहीं। आत्म-ज्ञान तो तब होगा जब किया जायेगा मनन, किये हुए स्वाध्याय के ऊपर दिया जायेगा ध्यान अपनी आत्मा की ओर। बिना मनन के लम्बे काल तक किया हुआ स्वाध्याय भी अजीर्ण भोजन के समान है। जिस प्रकार अजीर्ण भोजन को विष के समान माना जाता है उसी प्रकार मनन किये स्वाध्याय को मात्र तर्क व संसार का ही कारण माना है। इसके विषय में एक दृष्टान्त देकर बताया जाता है। बिना मनन के स्वाध्याय स्व-पर को जानने वाला अर्थात् सुखदायी नहीं होगा।

दृष्टान्त

उमड़ी हुई भीड़ चली जा रही है वन की ओर। किसी एक स्थान पर बैठा एक व्यक्ति जो कि सप्तव्यसनी था, देखने लगा उस जन-समूहको, और सहसा

मन में भावना उत्पन्न हुई कि मुझे भी इन सबके साथ जाके यह मालूम करना चाहिए कि यह सभी जनता मय राजा के कहाँ जा रही है ? उठ खड़ा हुआ और साथ हो गया सभी के। आगे जाके क्या देखता है कि एक शिला के ऊपर स्थित नग्न दिगम्बर महान् तपस्वी मुनिराज बैठे हैं। सबने मुनिराज को तीन प्रदक्षिणा देकर समक्ष आकर पचाङ्ग नमस्कार किया और बैठ गये उपदेशामृत पान करने के लिए।

सामायिक कर्म को समाप्त करके मुनिराज ने मुनि व श्रावक धर्म का उपदेश करते हुए पुण्य, पाप और वस्तुस्वभाव को बताया। अपनी शक्ति के अनुसार सभी ने नियम व्रत ग्रहण किये और नमस्कार कर खड़े होकर चल दिये नगर की ओर। मुनिराज अकेले रह गये। उस समय वह सप्त-व्यसनी भी मुनिराज के समीप आके बैठ गया और कहने लगा स्वामिन् ! मुझे भी कुछ व्रत देकर पवित्र कीजिए। मुनिराज ने कहा—क्या काम करते हो ? उत्तर मे कहा-स्वामी जी जुआ खेलता हूँ, चोरी करता हूँ और ऐसे ही कई काम करता हूँ। मुनिराज ने उससे कहा कि तू बस एक नियम ले ले कि मन्दिर जी में जाके स्वाध्याय करके ही भोजन करूँगा। परन्तु एक बात ध्यान मे रखने की है कि जो कुछ शास्त्र मे पढो, उसके ऊपर मनन अवश्य करना। फिर तुमको फलस्वरूप असीम आनन्द की प्राप्ति हो जायेगी।

स्वाध्याय का व्रत लेकर घर आया और मन्दिर जाके स्वाध्याय भी करने लगा प्रतिदिन, परन्तु भूल गया मनन करना। जुआ आदि भी खेलता रहा और स्वाध्याय भी करता रहा। इस प्रकार काफी लम्बा समय व्यतीत हो गया। एक दिन जुआ खेलते समय उसे समय अधिक हो गया। आके देखता है मन्दिर के किवाड बन्द हो गये हैं, दर्शन तो बाहर से जालियो मे से कर लिये परन्तु शास्त्र बाहर न होने के कारण खडा है स्वाध्याय करने की चिन्ता में। अकस्मात् जेब में हाथ जाता है तो उसमे निकली एक ताश की गड्डी। और निकलता भी क्या जुआरी की जेब से।

ताश की गड्डी को लेकर ही बैठ गया यह विचार करके कि कोई आके मन्दिरजी को खोलेगा तभी स्वाध्याय करके यहाँसे जायेगे। इस प्रकारसे विचार करते हुए वह देखता है ताश की ओर तो एक बूँद वाला, जिसे इक्का कहा जाता है, वह दिखाई दिया। बस देर ही क्या थी, मात्र निमित्त मिलने की, हो गया मनन शुरू। विचार करने लगा इक्के को देखते हुए कि जैसे इस इक्के में एक बूँद है वैसे ही मेरी आत्मा भी त्रिकाल निर्बाध अकेली है, परन्तु आत्मा का स्वभाव तो मुक्त है, मैं ससार मे क्यो ? इक्के को हटाते ही आ जाता है दो बूँद वाला ताश जिसे देखते ही कहने लगा कि यह दुग्गी यह बता रही है कि

आत्मा तो अकेली है परन्तु राग और द्वेष यह दो शत्रु उसके पीछे लगे हुए हैं। इसलिए आत्मा ससार में ही चक्कर खा रही है। फिर से सोचने लगा कि राग-द्वेष आत्मा के स्वभाव तो हैं नही, परन्तु फिर भी क्यों पीछे पड़े हुए हैं? ऐसा विचार करते हुए दुग्गी को हटाके चौकी पर रखा, निकल आया तीन बूँद वाला ताश। उसे देखते ही मन मे विचार हो उठा कि राग-द्वेष मुझसे अलग होते तो कैसे, मैंने अभी तक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को नहीं अपनाया, सच्चे देव, शास्त्र, गुरु पर श्रद्धा नही की, तीन गुप्तियों को वश में नही किया, तीन मूढ़ताओ मे ही लगा रहा। उस ताश को हटाते ही निकल आई चौकी। उसे देखते ही मन मे विचार आया कि कैसे तो आत्मा मोक्ष जाती और कैसे रत्नत्रय की प्राप्ति व रागद्वेष का अभाव होता; क्योंकि अभी तक इन अनादिकालीन चार कषायो की ओर तो हमारी कभी दृष्टि ही नहीं गई। इनके ही कारण जीव अपने स्वभाव को भूलकर चतुर्गति मे भ्रमण कर रहा है; मोक्ष के अविनाशी सुख को भूला हुआ है विषसम भोगो के वशीभूत होकर। उस ताश को हटाते ही निकल आता है पाँच बूँदी वाला ताश। उसे देखते ही मन ही मन कहने लगा कि चतुर्गति का चक्कर छूटता तो कैसे? अभी तक तो मैंने पाँच पापो को भी त्याग नही किया, पाँच इन्द्रियों को वश मे नहीं किया, पाँच अणुव्रत, पाँच महाव्रतो को ही नही अपनाया, पाँच समितियो का पालन भी नही किया, पञ्चपरावर्तनोको भी नही जाना। ऐसा विचार करते हुए उस ताश को चौकी पर रख दिया और देखने लगा—छह बूँद वाले ताश की ओर। उसे देखते ही विचार हो उठा कि पच पापादि छूटते तो कैसे? न तो हमने अभी तक छह काय के जीवो की रक्षा की, न छह आवश्यक कर्मों का पालन किया, न छह द्रव्यो के स्वरूप को ही समझा न छह लेश्याओंको ही जाना। ऐसा चिन्तन करते हुए रख दिया उस ताश का और देखने लगा सात बूँद वाले ताश की ओर। उसे देखते-देखते सोचा कि षडावश्यकादिको का आचरण करता तो कैसे? अभी तक तो मैने सप्त व्यसनो का भी त्याग नही किया, सप्त प्रकार के जो भय होते हैं इनका त्याग नही किया, सप्त नरको के दुखो को नहीं जाना, सप्त तत्त्वो का जैसा का तैसा श्रद्धान नही किया। ऐसा विचार करते हुए उस ताश को रख दिया और निकल आया आठ बूँद वाला ताश। उसे देखते ही मन मे विचार हो उठा कि सप्त तत्त्वादि का ज्ञान होता तो कैसे? अभी तक मैंने अपने आपको अष्ट मदो की ओर से तो मोडा ही नही, अष्ट मूलगुणो का पालन किया ही नही, अष्ट शंकादि दोषो को तो छोडा ही नही, अष्ट कर्मों-को अहितकारी जान उनके क्षय करने का उपाय भी किया नही। इस प्रकार का मन मे चिन्तन करते हुए आठ बूँद वाले ताश को रख दिया चौकी के ऊपर और

देखने लगा नौ बूंद वाले ताश की ओर। देखते ही विचार करने लगा कि शकादिक दोषो को छोड़ अष्ट कर्मों से मुक्त कैसे होता ? अभी तक मैंने नौ पदार्थों को ही नही जाना, नौ कषायों का त्याग नही किया, नौ शील की बाड़ों को न जाना। इसी कारण से आत्मा ने आज तक अपने सही स्थान को न अपनाया, मुक्तिपद को प्राप्त नही किया। ऐसा चिन्तन करते हुए उस ताश को हटाते ही निकल आया दस बूद वाला ताश और उसे देखते ही कहने लगा अपने आपसे कि नौ पदार्थों आदि का ज्ञान कहाँ से होता, अभी तक तो मैंने जो आत्मा के निजी गुण हैं ब्रह्मचर्यादि दस धर्म उनको अपने आचरण मे लाया ही नही। ऐसा विचार करते हुए रख दिया उस ताश को और निकल आया गुलाम, जिसकी कल्पित एकादश बूद मानी जाती है। उसे देखते ही सोचने लगा कि आत्मा के निजी दस धर्मो को मैं जीवन मे लाता तो कैसे ? अभी तक मैंने जो श्रावक की एकादश प्रतिमाएँ होती हैं उनको ही अपने आचरण मे नही लाया, आत्म-सिद्धि तो होती ही कहाँ से ? ऐसा विचार करते हुए उस ताश को रख दिया चौकी पर और देखने लगा उस ताश की ओर, जिसे बेगम कहते हैं। उसकी कल्पना से बारह बूद मानते हैं। उसी समय विचार करने लगा कि एकादश प्रतिमाओं का पालन मैं करता तो कैसे ? अभी तक न तो मैने द्वादश अनुपेक्षाओ को जाना, न द्वादश प्रकार के तपो का पालन किया, न द्वादश व्रतो को आचरण मे लाया। ऐसा विचार करते हुए रख दिया वह ताश को चौकी के ऊपर और निकल आया वह ताश, जिसे बादशाह कहते हैं, जिसकी कल्पना से तेरह बूंद मानते हैं। उसकी ओर देखते ही निकलना शुरू हो गये आखो मे से आँसू और करने लगा विचार अपने मन मे कि राग-द्वेष नष्ट कैसे होते ? रत्नत्रय की प्राप्ति कहा से होती ? चारो गतियो से परे कैसे होता ? पचपरावर्तनो से कैसे छूटता ? छ द्रव्यो के स्वरूप को कहा से जानता ? सप्त तत्त्वो का श्रद्धान कैसे होता ? अष्ट कर्मों से मुक्त कैसे होता ? नौ पदार्थों को कैसे जानता ? दस धर्मों का पालन कहाँ से करता ? एकादश शत्रुओ पर विजय प्राप्त कैसे होती ? द्वादश तपो का तप, अनुप्रेक्षाओ का चिन्तन कहाँ से करता ? अभी तक आत्मा को निर्मल कर मुक्त बना देने वाले तेरह प्रकार के चारित्र को तो सम्यक् श्रद्धा के साथ मैंने धारण किया ही नही। अगर कभी इन पूर्वोक्त व्रतादिको का पालन भी किया तो मात्र दिखावे के लिए ही, लोक मे ख्याति प्राप्त करने के लिए ही, आत्म-चिन्तन के लिए नही, मुक्तिपथ की ओर चलने के लिए नही। इन ज्ञान रहित मात्र क्रियाओंमे ही क्या मुझे मुक्ति मिल जाती है ? कभी नही। उसके लिए तो लगा देना होगा तन, वचन और मन। तब कही होगी प्रतीति आत्म-गुणो की।

इस प्रकार चिन्तन व मनन करते-करते हो गया विरक्त-संसार शरीर और भोगों की ओर से। हो आया स्मरण गुरु से लिए हुए स्वाध्याय और मनन के नियम का। कहने लगा अपने मन में कि गुरुजी ने दो नियम दिये थे—स्वाध्याय और उसके ऊपर मनन। अभी तक मात्र स्वाध्याय ही करता रहा, मनन की ओर कभी ध्यान हो नही दिया। अगर जब से स्वाध्याय करता आया हूँ, तब से ही मनन भी करना शुरू कर देता तो अभी तक मैं इन अकरणीय कर्मों से कबका ही मुक्त हो गया होता।

तोड़ दिया मोह कुटुम्बी और मित्रजनोंसे, मोड़ लिया मुख मन की ओर करने के लिए खोज उन परम दिगम्बर ऋषिराजकी। निर्जन वन में प्रवेश करते ही एक शिलातल पर बैठे पा ही गये परम गुरुदेव। उन्हें देखते ही भीग गया आनन्द-अश्रुओं में और गिर पडा चरणों में, करने लगा अपनी निन्दा और कहने लगा नाथ ! मुझ अशरण को भी शरण दीजिए, अभी तक मैं अपने को भूलकर परको अपना मानकर इस भवसागर में गोता खाता आया हूँ। आ गया आपकी शरण में, मुझे इन घोर दुखो से बचा लीजिए। कुछ दिन पूर्व मेरे ऊपर परम उपकार कर आपने मुझे जो स्वाध्याय और मनन का नियम दिया था उसमें से मनन को भूल गया और पड़ा रहा स्वाध्याय के पीछे, आज हो गया मनन स्वामिन् ! ऐसा कहते हुए कर दिया दोनो प्रकार के संग का त्याग गुरु साक्षीसे। कर लिया धारण तेरह प्रकार के चारित्र को, हो गया विभूषित मूलगुणों से, अपना लिया उस दिगम्बर वेष को, जो राग-द्वेष से रहित आत्मा को कर्ममल से रहित करने वाला है। अब हो गया पूर्ण-आनन्द में लीन, करने लगा ध्यान की सिद्धि आत्मा को शुक्त बनाने के लिये। कुछ ही दिनो में असहनीय तप के द्वारा दहन कर दिया चार घातिया कर्मों को और हो गया केवलज्ञान को प्राप्त। तत्पश्चात् कुछ काल व्यतीत होने पर आयु कर्म को समाप्त कर, कर लिया प्राप्त मुक्तिवधू को, बना लिया अपनी आत्मा को पुरुषार्थ के बल से अशरीरी, हो गया मुक्त समस्त कर्मों से, कर लिया उस अक्षय पद को प्राप्त, जिसके लिए बड़े-बड़े महाराजा चक्रवर्ती घोर परिश्रम करते हैं।

इस कल्पित दृष्टान्त से स्पष्ट हो गया कि मात्र स्वाध्याय करने से स्वानुभव नही हो सकेगा, स्वानुभव-प्राप्ति का कारण है मनन, चिन्तन और तद्रूप-आचरण। स्वाध्याय किये बिना ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकेगी। परन्तु स्वाध्याय तभी कार्यकारी होगा जब हम परकी निन्दादि को त्याग विकल्पों को रोकेंगे। स्वाध्याय तप का कथन करते हुए स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी इसी प्रकार कहा है—

परतत्तोणिरवेक्खो दुट्ठवियप्पाण णासणसमत्थो ।
तच्चविणिच्चयहेदु सज्झाओज्झाणसिद्धियरो ।।४५९।।

जो महापुरुष पर की निन्दा नहीं करते हैं, सांसारिक किसी वस्तु की वांछा नहीं करते हैं और मन में उठने वाले खोटे विकल्पों को नष्ट करके पढ़ते हैं शास्त्र, उनके ही तत्त्वों का निश्चय करने का कारण स्वाध्याय नामक तप होता है। इस स्वाध्याय से बढ़कर कोई तप नहीं है, क्योंकि इसके बिना किये सभी तप निष्फल हैं। कारण—स्वाध्याय नही करेंगे तो उन तपो का सही ज्ञान कैसे होगा ? और सही ज्ञान हुए बिना सभी तप मात्र शरीर को नष्ट करने वाले होंगे, कर्मों को नही। इसलिये कुछ समय निकालकर एकान्त स्थान पर स्वाध्याय हमे अवश्य करना चाहिये कि हमें इतने पेज पढ़ने हैं। अगर समय कम हो तो एक ही पेज व श्लोक पढ़ें, परन्तु उसके ऊपर अच्छी तरह से मनन करे, उसकी गहराई में चले जायें। फिर आयेगा आनन्द। वही कहा जायेगा स्वाध्याय परम तप।

कायोत्सर्ग तप

कायासे ममता हटा, निज गुण होकर लीन।
वैभव है अन्दर छिपा, किस कारणसे दीन ।।७०।।

अभी तक की बात उस तप की, जिसके द्वारा आत्मा व शरीर का यथार्थ ज्ञान होता है। अब की जायेगी बात उस तप की, जो ध्यान कराने में सहायक होता है, उसे कहते कायोत्सर्ग। किसी निर्जन वन मे शरीर से ममत्व छोडकर आत्म-गुणों का चिन्तन खड़े होकर करना उसे कहते हैं कायोत्सर्ग। कही-कही ऐसा भी लिखा है कि २७ श्वासोच्छ्वास मे नौ बार नमस्कार मंत्रका जाप करना भी कहलाता है कायोत्सर्ग। इस तप का पूर्णतया तो वही मुनि पालन करते हैं जो रहते हैं नगर, घर छोडकर एकान्त वन में। वहाँ अधिक समय वे कायोत्सर्ग मुद्रा में ही व्यतीत करते हैं।

इस तप को हम भी अपनी शक्ति के अनुसार अपनायें तो उसमें से कुछ आनन्द हमे भी अवश्य आयेगा, जो पूर्ण तप के प्रतीक मुनियो को आता है। क्योंकि जो जितना करता है उसे उतना ही फल प्राप्त होता है। इस तप को करने से हमारे किसी भी गृहस्थी सम्बन्धी कार्य मे बाधा आने वाली नही है। सुबह उठते ही हाथ मुह धोकर निश्चल अवस्था मे खड़े होकर मन को स्थिर कर, नौ बार णमोकार मन्त्र का जाप करे, और इसी प्रकार सायंकाल के समय करें। व्रत के दिन किसी एकान्त स्थान मे जहाँ किसी प्रकार की बाधा नही हो वहाँ जाकर कायोत्सर्ग तप करना चाहिये हमे। कायोत्सर्ग करते समय हम

छोड़ दें अपने शरीर से मोह, चाहे कितनी भी बाधायें क्यों न आ जायें, परन्तु निश्चल ही खड़े रहें। तभी कहा जायेगा सच्चा कायोत्सर्ग तप और तभी होगी आत्म-सिद्धि।

ध्यान—तप

रौद्र ध्यान् नरकी पड़े, आरत पशुगति होय।
धर्म ध्यानसे सद्‌गति, शुक्ल मुक्त गति होय॥

अभी तक की थी बात उस तप की, जिसके द्वारा मन, वचन और काय को वश में किया जाता है, अब की जायेगी बात उस ध्यान व्रत की, जिसके द्वारा की जाती है खोज निज आत्म-गुणो की, निज स्वभाव की।

मन, वचन और काय—इन तीनो योगो का निरोध करके अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उपयोग का एक जगह ठहरना कहा जाता है ध्यान। इस ध्यान को उत्तम संहनन के धारी ही पूण रूप से करते हैं। इसका मतलब यह नही है कि इस ध्यान को मुनि ही करें, अपनी शक्ति के अनुसार जो करेगा वह वैसा ही फल प्राप्त करेगा।

इस कर्मों को दहन करने वाले ध्यान तप का पालन अपने जीवन में हम भी कर सकते हैं। इसे करने से हमारी हानि ही क्या ? कुछ भी नहीं और लाभ इतना अवश्य है कि ध्यान वास्तव में सही रूप से करते रहे तो एक दिन वह भी सामने आ जायेगा, जिसमें आत्मा के सभी गुणो की प्राप्ति हो जायेगी।

हितकारी नहि ध्यान सम, शक्ति दे प्रगटाय।
ध्याता पर तज योग से, निजमें निज रमि जाय॥७१॥

ध्यान के चार भेद हैं—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान। इनमें से पूर्व के दो आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान अशुभ होते हैं और आगेके दो धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान शुभ हैं।

अशुभ ध्यान

दुखका कारण अशुभ है, इसे करो मति कोय।
जो यदि रमि इसमें गये, निज अनुभव ना होइ॥७२॥

दुःखकारी विषय का संयोग होने से अपने मन में ऐसा चिन्तवन करना कि इन दुःखो से किसप्र कार मुक्त होऊं ? और दुःखी होकर रुदनादि करना

आर्त्तध्यान कहा जाता है और जो अपने से प्यारी वस्तु होय उसका वियोग होने पर दुःखी होना, व रोग होने पर दुःखी होना, और किसी धर्म को करके निदान बाँधना यह भी आर्त्तध्यान ही कहा जाता है ।

किसी जीव की हिंसा करके सुख मानना, झूठ बोलकरके आनन्द मनाना, किसी की चोरी करके प्रसन्न होना, भोगो की सामग्री पैसादि आवश्यकता से अधिक एकत्र करके प्रसन्न होना, यह कहा जाता है रौद्रध्यान । यह दोनों ध्यान करना महान् पाप का कारण है और पाप के कारण जीव को दुर्गति का मुख देखना पड़ता है । वहाँ अनेक प्रकार के कष्टो का सामना करना पड़ता है । इसलिए इस मनुष्य गति में आकर के आर्त्त-रौद्र परिणामों का त्याग करें और धर्म-ध्यान मे अपने उपयोग को लगायें । नही, यह नरजन्म फिरसे मिलना कठिन है । अशुभ विकल्पों का आना हमारे अन्दर आजकल स्वभाव जैसा हो गया है क्योंकि ससारी परवस्तु में हमारा ममत्व भाव अधिक बढ चुका है । हमें यह भान नहीं है कि और तो मेरा क्या हो सकेगा, यह शरीर भी एक दिन धोका देकर चला जाने वाला है । अगर हमे यह सही ज्ञान हो जाये कि मैं तो मात्र एक चैतन्यमात्र हूँ और यह दिखने वाले सभी पदार्थ मुझसे भिन्न हैं, फिर अशुभ विकल्पो का आना रुक जायेगा—अपने आप, और हो जायेगा धर्म्मध्यान शुरू ।

धर्म्य—ध्यान

ध्यान धर्ममें धर्म बस, उनको ले यदि धार ।
उनहींका कर आचरण, सहज लगे भव पार ।।७३।।

पूर्वोक्त दोनों ध्यान तो दूर से ही त्यागने योग्य हैं क्योंकि इनसे बढ़कर ससार में हमारा कोई अहितकारक नही है और शुक्ल ध्यान आज-कल हो नहीं सकता, क्योंकि आज-कल हमारे में वह उत्तम सहनन नही है जिसमें शुक्लध्यान होता है । आज-कल हमारा परम उपकारी भवसागर से पार ले जाने वाला, अशुभ विकल्पो को नष्ट करने वाला है तो धर्म्य-ध्यान ही है, उसका आचरण हमें प्रतिदिन मन, वचन व काय से करना चाहिए ।

धर्म

वस्तु के स्वभाव को आचार्यों ने धर्म कहा है । जैसे जीव का स्वभाव ज्ञान, दर्शन, चेतना, उत्तम क्षमादि दश धर्म, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आदि । अभेदरूप अर्थात् निश्चय से तो वस्तु का स्वभाव ही धर्म है और भेद अर्थात् व्यवहार से महाव्रत, अणुव्रत, समिति, गुप्ति, आवश्यक, तप, क्षमा,

दया, शील, वात्सल्य आदि सभी शुभ कार्यों को धर्म कहा है। इस व्यवहार धर्म के बिना निश्चय धर्म का, जो आत्मा का स्वभाव है उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए सम्यक् श्रद्धा के साथ उपर्युक्त सभी शुभकारक कार्यों को अपने जीवन में उतारना चाहिए।

ध्यान कौन कर सकता है ?

भोग-काय-संसार से, लेते जो मुख मोड़।
ध्यान वही कर सकत हैं, देत करम को छोड़ ॥७४॥

जो मनुष्य संसार, शरीर, भोगों से विरक्त होकर करता है आत्म-गुणों का चिन्तन वही सही रूप से ध्यान कर सकता है। मनुष्य त्याग देता है इन्द्रिय-जनित सुखों को, विरक्त हो जाता है पंच पापों की ओर से, नहीं देता है स्थान अपने अन्दर क्रोध, मान, माया और लोभ को घटा दी है राग-द्वेष की परिणति जिन्होंने, हटा लिया है मित्र व परिवार जनों से मोह को, छोड़ दी है चिन्ता धन कमाने की–शरीर सजाने की, नही होते हैं विचार उनके अन्दर मे किसी का अहित करने के, नष्ट हो गई है स्वार्थ बुद्धि, अन्य जीवों के प्रति (उनको मोक्ष मार्ग पर लगाने के लिए) हो गया है वात्सल्यभाव, दयाभाव जिनके और जो अष्टमूलगुणों के धारी है, सप्त व्यसनो के त्यागी हैं, प्रत्येक दिन देव-दर्शन करते हैं, पानी छानकर पीते हैं और भोजन दिन में ही कर समस्त अहितकारक क्रियाओ से परे रहते हैं अर्थात् इन अकरणीय क्रियाओ की ओर से मोड लेते हैं अपने मन को और लगा देते हैं वस्तु- स्वभाव के चिन्तन में, तथा धार्मिक कार्यों मे, वही भव्य जीव धर्म्म-ध्यान का पात्र है अर्थात् वही सही रूप मे धर्म्य-ध्यान कर सकता है दूसरा नहीं।

शुभ ध्यान के भेद

ध्यान धर्मके भेद जो, चारों सुखको देत।
शक्ति लखि करते रहें, होय हमारा हेत ॥७५॥

आचार्यों ने धर्म्य-ध्यान को सर्वप्रथम तो चार भागो मे विभक्त किया है, आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, संस्थानविचय। भगवान् जिनेन्द्र ने जो तत्त्वो का, वस्तुस्वभाव का उपदेश दिया है उसके ऊपर स्वयं श्रद्धान करना, आचरण करना, उनकी आज्ञा का पालन करना, आज्ञाविचय नाम का धर्म्य-ध्यान है।

अपायविचय – अपाय का अर्थ है नाश। जिस प्रकार से कर्मों का क्षय हो सके, मोह, मिथ्यात्व, कषाय, राग-द्वेषादि भावो का नाश हो सके-ऐसा प्रति-क्षण उपाय, आचरण व चिन्तन करना कहा जाता है अपायविचय।

विपाकविचय—विपाक नाम है कर्मों का उदय। जिस समय के लिए जो कर्म बांधा था वह अपने समय में उदय होता हुआ फल देता जा रहा है, उसमें हम राग-द्वेष न करें, यथार्थ चिन्तन करे वही है विपाकविचय धर्म्यध्यान और जिसमें समस्त लोक की स्थितिस्वरूप का चिन्तन किया जाये वह कहा जाता है संस्थानविचय धर्म्यध्यान। इन चार प्रकार के ध्यानों का कहीं-कहीं दस प्रकार से भी विवेचन किया गया है।

संस्थानविचय ध्यान के चार भेद

आचार्यों ने शुभध्यान के चार भेद बताये हैं। वे इतने सरल हैं कि अपने जीवन में उन्हें बिना किसी परेशानी के उतारा जा सकता है और वह इतने हमारे हितैषी हैं कि संसार-दलदल से निकाल बिठा देंगे सिद्धशिला पर ले जाके। फिर मिल जायेगी पूर्ण शान्ति की झलक, हो जायेंगे मुक्त-कर्म शत्रुओं से। अतः हमें इन पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत चारो ध्यानों के स्वरूप को समझाकर सुबह-शाम जितना समय मिल सके उतने समय अवश्य करें तो हो जायेगा चलना शुरू मुक्ति-पथकी ओर।

पिंडस्थ ध्यान

पांच भेद पिण्डस्थके, पहले इनको जान।
फिर अनुभवमें लायके, करो भेद–विज्ञान ॥७६॥

अब आगे पिण्डस्थ ध्यान को बताया जा रहा है। इसे हम अच्छी तरह से समझने की कोशिश करे और कर दें शुरू अभी से इनका करना। परन्तु करने के पूर्व इसकी क्रिया और भेदों को जानना जरूरी होगा। इस पिण्डस्थ ध्यान की पच धारणायें हैं—पार्थिवी धारणा, आग्नेयी धारणा, पवन धारणा, वारुणी धारणा, और तत्त्व धारणा। इन सबका सक्षेप से नीचे कथन किया जायेगा।

पार्थिवी धारणा

सिन्धु शान्त आसन कमल, मुनि बनि निजको जोय।
ये ही पार्थिवी धारणा, अनुभवसे सुख होय॥

अपने मन में ऐसी कल्पना करें कि एक राजू विस्तार वाला है क्षीर-सागर। उनमे न तो मगरमच्छ ही दिखाई देते हैं और न किसी प्रकारका तूफान ही। बिलकुल शान्त हैं, किसी प्रकार की आवाज भी नही है। दिखने में ऐसा मालूम हो रहा हो, मानो बरफ ही जमी हो। उसी समुद्र के बीच तपाये स्वर्णके समान, अम्लाण प्रभाका धारक, एक हजार पत्र-पांखुड़ी युक्त तथा पद्मराग मणिमय

उदयरूप, केसरावली एक कमल का चिन्तन करें। वह कमल जम्बूद्वीप के समान एक लक्ष योजन के विस्तारवाला विचारें और उसके बीच चित्तरूपी भ्रमर को रंजायमान करने वाली मेरु के समान है कर्णिका। उस कर्णिका के ऊपर दशो दिशाओ को प्रकाशित करने वाला शरदऋतु के चन्द्रमा के समान कान्तिवाला, रत्न व मणियो से जड़ित एक सिंहासन सुशोभित हो रहा है और मैं समस्त सङ्ग (परिग्रह) को त्यागकर राग-द्वेष से मुक्त हो बैठा हूँ उस सिंहासन के ऊपर और कर रहा हूँ वस्तु-स्वभाव ज्ञानमयी आत्मा का चिन्तन। ऐसा विचार कही जाती है पार्थिवी धारणा। अब आगे बताया जायेगा आग्नेयी धारणा का स्वरूप।

अग्नि धारणा

> **नाभि है उर कर्मयुक्त, कमल सु चिन्तन जोय।**
> **हूँ हूँ ज्वाला कर्म वह, अग्नि धारणा होय ॥**

जब पृथ्वी धारणाका पूर्ण अभ्यास हो जाय तब उसी सिंहासन पर बैठे हुए अपनी नाभि के बीच एक षोडश पांखुडी के कमल का चिन्तन करें। उस कमल की एक-एक पाखुड़ी-पत्र के ऊपर स्वर्णाक्षरो से लिखे हुए एक-एक स्वर अर्थात् अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः का चिन्तन करें। तदनन्तर उस कमल के बीच सूर्य के समान चमकने वाली कर्णिका के ऊपर 'हूँ' नाम मन्त्र का चिन्तन करे। यह मन्त्र समस्त पापों का दहन करने वाला है—ऐसा जानकर उसी के ऊपर कुछ समय चिन्तन करें। कुछ समय के पश्चात् उस कर्मनाशक "हूँ" अक्षरो में से धूम उठता चिन्तन करे। कुछ ही समय के बाद देखे चिनगारी चमकती धधकती हुई अग्नि की उसी "हूँ" में से। उसी समय करें चिन्तन अपने हृदय में अष्ट पांखुडी वाले कमल का, और एक-एक पत्र के ऊपर एक-एक कर्म की कल्पना करें. फिर विचार करें कि अग्नि ने कर दिया है शुरू जलाना उस कर्मरूपी कमल को। बस, बाकी शरीर है, कर्म तो जल के भस्म हो गये। ऐसा विचार करते हुए कल्पना से अग्नि का त्रिकोण बना ले और उससे शरीर को जलता हुआ चिन्तन करें। फिर चिन्तन करें कि कर्म और नोकर्म को अग्नि ने जलाके भस्म कर दिया है, अब कुछ नहीं रहा है शेष जलाने के लिए। अतः अग्नि स्वयमेव ही धीरे-धीरे शान्त हो गई। यहाँ तक अग्नि-धारणा ध्यान का कथन किया, अब आगे बतायेंगे पवन धारणा।

पवन धारणा

> **चले हवा अति वेगसे, सहज भसम उड़ जाय।**
> **ये ही वारुणि धारणा, अनुभवसे चित लाय ॥७६॥**

अब पूर्णतया अग्नि धारणा का अभ्यास हो जाये तब कर दें शुरू चिन्तन पवन धारणा का। बड़ा भयंकर, वृक्षों को उखाड़ने वाले, मेरु को कम्पायमान करने वाले, पृथ्वीमण्डल से लेकर आकाश पर्यन्त छाये हुए, वेग के साथ चलने वाले पवन (आँधी) का चिन्तन करे और विचारे कि "हूँ" मन्त्र के प्रताप से जो कर्म व शरीर भस्म हो गये थे, उनकी पड़ी हुई जो राख थी उसे भी यह पवन उड़ा ले गई। इसे कहते हैं पवन धारणा। अब बताया जायेगा वारुणी धारणा का स्वरूप।

वारुणी धारणा

सलिल वृष्टि अति हो रही, शेष कर्म मल धोय।
रही स्वच्छ बस आत्मा, जल धारणा है सोय ।।८०।।

वारुणी धारणा मे इस प्रकार का चिन्तन करे कि सघन मेघोसे आकाश व्याप्त है। चमक रही हैं उसके अन्दर बिजलियाँ और खिंचे हुए हैं इन्द्रधनुष तथा हो रही है घोर गर्जना। उसी समय आकाश से अमृत समान मोतियो जैसे चमकते हुए सघन मेघों का चिन्तन करें और उस बरसती हुई अमृत वाणी के समान मेघधारा से उस अपनी आत्मा मे जो कुछ रज चिपटी हुई रह गई थी उसे प्रक्षालन होती चिन्तन करे। इसे कहते हैं वारुणी धारणा। अब कहा जायेगा तत्त्वधारणा का स्वरूप।

तत्त्व धारणा

शुद्ध तत्त्वका अनुभवन, कीजे सिद्ध समान।
यही धारणा तत्त्व है, फल है केवलज्ञान ।।८१।।

उसी सिंहासन पर आसीन इस प्रकार चिन्तन करना कि मैं कर्ममल से रहित हूँ, चैतन्य स्वभाव-वाला हूँ, मात्र ज्ञाता-द्रष्टा हूँ, कर्ता भोक्ता नहीं, नोकर्म आदि मेरे नही हैं, मैं दर्शन-ज्ञान-चारित्र का पुञ्ज हूँ, केवलज्योति स्वरूप हूँ, शुद्ध स्वभाव वाला हूँ, राग-द्वेष मे मुक्त हूँ क्रोध-मान-माया-लोभादि कषायों से मैं रहित हूँ, अनन्तचतुष्टय का स्वामी हूँ, शरीर रहित हूँ और अनन्त गुणों का स्वामी हूँ। यही है तत्त्व धारणा।

इस तत्त्व धारणाका चिन्तन व मनन करनेसे ज्ञात होता है अपना स्वभाव हमको और करने लगते हैं कुछ समयके लिए इस अलौकिक सुखका आंशिक अनुभव। यह मेरी अनुभव की हुई बात है कि कुछ दिन के अभ्यास से इस ध्यान में वह आनन्द आता है कि जो न तो मुख से कहा जा सकता है और न कलम से लिखा जा सकता है। उसको तो वही जान सकता है जो क्रिया रूप मे

ले आये। जैसे मिश्री खाने वाला यह तो कह सकता है कि मिश्री मीठी होती है परन्तु इसे मिश्री खाते समय जो मिठास का अनुभव होता है, आनन्द आता है क्या वह उसे बता सकता है ? कभी नहीं। इसी प्रकार ध्यान में जो आनन्द आता है वह बतलाया नही जा सकता। अगर सच्ची भावना है हमारी मुक्तिपथ की ओर चलने की तो समस्त प्रपचो से कुछ समय के लिए मुक्त होकर कर दें शुरू पिडस्थ ध्यान।

पदस्थ ध्यान

> **णमोकार अरु वरण सब, इनका चिन्तन होय।**
> **ये ही ध्यान पदस्थ है, अनुभव निज जोय ॥८२॥**

अभी तक किया था सक्षेप में कथन पिडस्थ ध्यान का, अब आगे बताया जा रहा है उस पदस्थ ध्यान को जिसका स्मरण करने से हो जाता है क्षय समस्त पाप-कर्मों का।

नमस्कार आदि मन्त्र और स्वर-व्यंजनादिको का चिन्तन व मनन कहा जाता है पदस्थ ध्यान। इस पदस्थ ध्यान के बिना नही हो सकती है प्राप्ति अपने पद की हमे। अतः इसका सही रूप समझकर कर दे शुरू पदस्थ ध्यान को निजपद-प्राप्ति हेतु इसी समय।

उसी पूर्वोक्त सिंहासन के ऊपर स्थित अपने मन में इस प्रकारका चिन्तन करे कि मेरी नाभि मे षोडस पांखुडी वाला एक अतिशयवान् कमल है। उस कमल की एक-एक पांखुड़ी के ऊपर एक-एक स्वर है, उनकी संख्या इस प्रकार से है—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः। तदनन्तर अपने हृदयमें चौबीस पांखुड़ी के कमल का चिन्तन करें। उस कमल के बीच चन्द्रकान्ति मणि के समान कर्णिका का चिन्तन करते हुए पच वर्गों के एक-एक अक्षर का एक-एक पत्र व कर्णिका पर चिन्तन करें। उन अक्षरों की संख्या इस प्रकार से है—क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म। इसके पश्चात् अपने मुख में एक सुन्दर आठ पांखुडी वाले कमल का चिन्तन करे उसके चारो ओर प्रदक्षिणा देते हुए य र ल व, श ष स, और ह इन सभी व्यंजनों का विचार करें। यह वर्णमालिका अनादिकालीन है। इसका मनन और चिन्तन करने से ज्ञानी श्रुतज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं और वस्तु स्वभाव का उन्हें ज्ञान हो जाता है, उनको दुःखसमूह छोड़कर भाग जाता है।

इन अज्ञाननाशक अक्षरो का चिन्तन कर पीछे जिनागम में बताये हुए पेंतीस अक्षर के अनादिणमोकार मन्त्र का ध्यान करे। वह णमोकार मन्त्र इस प्रकार है—

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरीयाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं॥

तथा इसी महामन्त्र के सोलह, छह, पाँच चार, दो और एक अक्षर आदि के मन्त्रों का भी ध्यान करें और चत्तारि मंगलं आदि सभी का ध्यान मन को स्थिर करके करें, क्योंकि यह अनादि मूल मन्त्र समस्त पापों को नष्ट करने वाला है, समस्त ऋद्धि-सिद्धियो को देने वाला है, ससारी-वैभवको देता हुआ मोक्षमार्ग पर लगानवाला है। अतः हमें समस्त कार्य छोड़कर मगल आदि मन्त्रों का ध्यान मन, वचन, कायकी एकता कर करना चाहिये, ताकि उतर जाये जहर भोगरूपी, खुल जायें नेत्र ज्ञान-रूपी।

इस प्रकार सर्वसिद्धिदायक पदस्थ ध्यानको बताया। अब आगे बताया जायेगा रूपस्थ ध्यानको, जो उपयोग को रोकनेके लिए बाँधके समान है, स्वज्ञान करानेके लिए निर्मल दर्पणके समान है।

रूपस्थ ध्यान

पंच परम पद मूर्ति, जो उनका करना ध्यान।
ध्यान यही रूपस्थ है, प्रगटावे निज ज्ञान॥८३॥

किसी रूपी पदार्थ का चिन्तन करना कहा जाता है रूपस्थ ध्यान। इस रूपस्थ ध्यानमें देवरचित देवाधिदेवके समवसरणका चिन्तन किया जाता है। उसी पूर्वोक्त स्फटिक मणिमय सिंहासनके ऊपर अपनेको स्थित चिन्तन करते हुए उस भूमिसे ५०० धनुष ऊपर बीस हजार पैडियोवाले समवसरणका चिन्तन करे। सर्वप्रथम उसके कोट खाई आदिका चिन्तन करे जो कि रत्नोसे बने हुए हैं। फिर समवसरणमें प्रवेश करें और उन नाट्यशाला आदिको देखें जिनके अन्दर अनेक देव-देवियाँ भक्तिमें लीन होकर भगवान्‌के गुण-गान गाती हुई अनेक प्रकारके नृत्य व भक्तिगान कर रही हैं। फिर आगे अनेक वन आते हैं—कोई अशोक वन है, कोई आम्र वन है इत्यादि। उन सभीका चिन्तन करते हुए चारों तरफ चार दरवाजे बड़े विशाल बने हुए हैं, उनके ऊपर देवोका पहरा रहता है, और वहाँ पर एक भव्य कूट है, वहाँ से आगे देव अभव्यको जाने नही देते, ऐसा विचार करें। फिर उन मानस्तम्भोका चिन्तन करे, जो चारो दिशाओ में चार होते हैं और जिनको देखते ही अभिमानी पुरुषो के मान भङ्ग हो जाते हैं। उनके ऊपर चौमुखी रत्नमयी मनोहर प्रतिमाओका चिन्तन कर एक-एक मानस्थम्भोके चारों ओर एक-एक बावड़ीका चिन्तन करे।

इस प्रकार और भी वहाँकी भूमि आदिका चिन्तन करते हुए उन द्वादश

सभाओंका चिन्तन करें, जो गन्धकुटी के चारों ओर हैं और उनमें क्रमशः चार सभाओं में चारों प्रकार के देव, चारमें उनकी देवियाँ, एकमें महात्यागी सप्त प्रकारके मुनिराज, एकमें तिर्यञ्च, तथा एकमें श्रावक, एकमें श्राविकायें। समस्त जीव परस्पर में विरोध रहित हैं क्योंकि विरोध करना जीवका स्वभाव नहीं है; विभाव है-विकार है। और समवसरण में आके भूल जाते हैं सभी विभाव परिणति को, भाते रहते हैं निज-पर-कल्याण की भावना-ऐसा विचार फिर उस गन्धकुटी की ओर देखें, जो तीन कटनी युक्त रत्नादि मणियों से बनी हुई है। उसके ऊपर एक विशाल कमलासन है, और उस कमलासन से कुछ ऊपर अष्ट प्रातिहार्ययुक्त, अनन्तचतुष्टय के धनी, चौतीस अतिशयों से सुशोभित, अष्टादश दोष रहित भगवान् जिनेन्द्र विराजमान हैं, ऐसा चिन्तन समवसरण में दिन-रात का भेद नही प्रतीत होता, क्योकि वहाँ भामण्डल का इतना प्रकाश है कि उसके आगे सूर्य और चन्द्र तारे आदि के दर्शन नही होते। दिन मे तीन बार भगवान् का धर्मोपदेश होता है और गणधर उसका अर्थ बताते है, ऐसा चिन्तन करें। उसमें हमारा मन स्थिर होता है और यही रूपस्थ ध्यान कहा जाता है। समवसरण का पूर्ण विवरण तो आगमग्रन्थों से जानना चाहिए। यहाँ तो बहुत ही सक्षेप मे उसका वर्णन किया है।

किसी तीर्थभूमिका चिन्तन करना कि यहाँ भगवान् का जन्म हुआ था, वहाँ उन्होने तपस्या की थी, यहाँ से उनको केवलज्ञान हुआ था। ऐसा विचार करना भी इसी ध्यान मे आ जाता है। किसी क्षेत्र की या मन्दिर की सुन्दर प्रतिमाजी के रूप का चिन्तन करना, गुरुओं के स्वरूप का, उनके गुणोंका चिन्तन करना इत्यादि यह सभी विचार कहे जाते हैं रूपस्थ ध्यान। इस ध्यान को करने से हमे अपने स्वरूप का भान होता है। स्वरूपज्ञान होने से हो जाती हैं अरुचि संसार, शरीर और भोगो से। फिर मिल जाता है मोक्ष-मार्ग स्वतः ही। अतः हम इस रूपस्थ ध्यान का अभ्यास अवश्य करें, क्योकि यह समस्त दुखो को नष्ट करने वाला है, समस्त सासारिक सुख देता हुआ उस अक्षय आनन्द का कारण है जो अकथनीय है। अगर चाहते हैं हम निजहित और मुक्तिपथ की ओर चलना तो कर दें रूपस्थ ध्याल शुरू, जब समय मिले, तबही।

रूपातीत ध्यान

> सिद्ध गुणोंका चिन्तवन, निज अनुभवसे होय।
> ध्यान स्वरूपातीत है, करे लहै शिव सोय ॥८४॥

इस प्रकार बताया रूपस्थ ध्यान को। अब उस रूपातीत ध्यानका कथन किया जायेगा, जो मात्र अनुभव के द्वारा ही जाना जा सकता है इन्द्रियो के

द्वारा नही। इस रूपातीत ध्यान में सिद्ध भगवान् के स्वरूप का चिन्तन करें कि ये शरीर रहित हैं, मात्र-ज्ञानमूर्ति हैं, चेतनमात्र हैं, अष्टकर्मों से रहित हैं, समकितादि अष्टगुणो से सहित हैं, लोकके अग्रभाग पर स्थित हैं, कर्त्ता-भोक्ता नहीं, मात्र ज्ञाता-द्रष्टा हैं, अपने सम्पूर्ण गुणोको आपने अपने पुरुषार्थके द्वारा प्रकट कर लिया है। इसी प्रकार उनके अनन्तगुणो का चिन्तन करते हुए उनके गुणोंसे अपनी तुलना करें कि मेरे अन्दर भी वह शक्ति छिपी हुई है जो भगवान् सिद्धोके अन्दर है। मेरा स्वरूप भी अन्य कुछ नही है, मैं तो मात्र एक चैतन्य-द्रव्य हूं, परन्तु अनादिकालसे मोह-मदिरा पीकर बावला-सा हो रहा हूं, अपने स्वरूपको भूला हुआ हूं परको अपना मानकर। जो आत्मा-सिद्धोंकी है वही मेरी है, उनकी निर्मल होकर आ गई है प्रकाश मे और मेरी छुपी हुई है शरीर के अन्दर। वे बन गये हैं मूर्ति मात्र दर्शन ज्ञान-चारित्रकी, कर्मोसे अलग होनेके कारण और मैं लीन हूं देहादि में, कर्मोंसे लिप्त होनेके कारण। और भी इसी प्रकार के अनेक विचार करे। यही है रूपातीत ध्यान, यही है अतीन्द्रिय सुखका कारण। यह रूपातीत ध्यान हमे प्रत्येक दिन करना चाहिए, क्योकि इसका अनुभव किये बिना जो हमारा सही रूप है उसका ज्ञान नही हो सकता। अपने स्वरूपका ज्ञान हुए बिना नही मिल सकता मार्ग मोक्षका, नही हो सकती प्राप्ति सच्चे सुख की। स्वानुभवकी प्रशसा करते हुए किसी कवि ने लिखा है कि—

अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव रसका कूप।
अनुभव मारग मोक्षका, अनुभव मोक्ष स्वरूप॥

इस शुभकारक और शुद्धके कारण ध्यानोको हम अवश्य करे। अगर हमारा मन अधिक समय तक न रुक सके, तो जितने समय तक रुके उतने समय तक ही करे, क्योकि हम ध्यानका अभ्यास करते रहेगे तो एक दिन वह अवश्य आ जायेगा कि जिनमे हमारा तन व मन सब रुक जायेगा स्वत: ही और हो जायेगा शुक्ल ध्यान। कोई भी कार्यकी सिद्धि एकदम से नही होती, क्रम-क्रमसे ही होती है। क्षीरकी एक-एक बूंदसे घट भर जाता है, चींटी धीरे-धीरे पर्वत पर चढ़ जाती है, एक अक्षरका ज्ञान प्रतिदिन करनेसे मूढ ज्ञानी बन जाते हैं। तो क्या ध्यानका अभ्यास कर हम ध्यानी नही बनेंगे? अवश्य बनेंगे। प्रतिदिनके अभ्यासके विषयमे किसी कविने कहा है—

करत करत अभ्यासके, जड़मति होत सुजान।
रसुरी आवत जातके, शिल पर पड़त निसान॥

अभ्यास करना बहुत बड़ी बात है।

सिद्धि नही हो सकती, चाहे वह संसारी हो अथवा धार्मिक। अत. हमे धर्म-ध्यान का अभ्यास व अनुभव हर समय करते रहना चाहिये, ताकि न भटकना पड़े भव वनमे लग जायें मुक्ति-मार्गमे।

यह धर्मध्यान ही एक ऐसा ध्यान है कि यह लोक और परलोक दोनोके सुखोको हमे प्रदान करता है और धर्मध्यान रहित जीवन ही एक ऐसा जीवन है जो मनुष्यशरीर होते हुए भी उसको तिर्यञ्चके समान बना देता है। किसी कविने भी इसी प्रकार से कहा है—

धरम करत संसार सुख, धर्म करत निरवाण।
धरम पन्थ साधे बिना, नर तिर्यञ्च समान ॥

ध्यानसे बढकर ससार में कोई धर्म नही है। धर्मध्यानका कथन सक्षेपमें इस प्रकार पूर्ण किया।

अब आता है शुक्ल ध्यान। उसके भी चार भेद होते हैं। वह ध्यान श्रेणी चढने वाले महामुनियो तथा भगवान् केवलीके होता है। उसका कथन यहाँ नही किया जा रहा है और शास्त्रोके द्वारा जान ले।

ध्यान बराबर तप नहीं, साथ ज्ञानके होय।
'सनमति' निश दिन कीजिये, तब सच्चा सुख होय ॥८५॥

षष्ठ आवश्यक कर्म : दान

दान-दान सब कहत हैं, दे ना जाने कोय।
दान कला जाने बिना, दान कहाँ से होय ॥८६॥

अभी तक की गई है बात देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, सयम और तपकी। देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, सयम और तप नामक आवश्यक कर्मोंका पालन करनेसे हमे वह शान्तिकी एक लहर प्राप्त हुई है जो अकथनीय है। अब हमारे आवश्यक कर्मोंमे से एक आवश्यक कर्म और शेष है वह है दान। यहाँ उस दाननामक आवश्यक कर्मको संक्षेपमें बताया जायेगा।

दान किसे कहते हैं ?

मुक्ति-पथकी ओर चलने वाले भव्यजीवोको धर्मक्षेत्रमें त्याग भावनासे, दीन-दु:खी जीवोको करुणाभावसे आवश्यकता के अनुसार वस्तु भेंट करना, ख्याति-लाभ न चाहते हुए हमेशा के लिए दे देना वही कहा जाता है दान अर्थात् अपने परिश्रम से 'कमाये', एकत्र किये हुए धनका सत्पात्रो के लिए त्याग करने को कहते हैं दान।

दान के आचार्यों ने कई भेद बताये हैं, इनमें से चार प्रसिद्ध हैं। वे हैं– आहारदान, ज्ञानदान, औषधिदान और अभयदान। इन चारों प्रकार के दानों को निज शक्ति के अनुसार प्रत्येक दिन करना हमारा परम कर्त्तव्य है।

दान क्यों ?

दान जब होता है तब आ जाती है हमारे अन्दर प्रवृत्ति त्याग की और त्याग को उत्तमक्षमादि दस धर्मों मे धर्म कहा है। दसलक्षण धर्म की पूजा में भी कविवर द्यानतरायजी ने इस प्रकार लिखा है—

उत्तम त्याग कह्यो जग सारा,
औषधि शास्त्र अभय आहारा ॥

दान ओर धर्म अलग नही, एक ही हैं। धर्म है वह दान है दान है वह धर्म है, क्योंकि भावपूर्वक जितना परपदार्थों से ममत्व और राग-द्वेष आदि विकार भावो का परित्याग, जितना व्रत, चारित्र, सामायिक, ध्यान और स्व-सवेदन होगा वे सब त्याग धर्म के कारण होगे। जिस समय कारणो की कार्य में उपचार की कल्पना की जायेगी उस समय समस्त व्रत, चारित्र, जप, तप, आदि धर्म त्यागरूप (दान। ही कहे जायेंगे। इसलिए त्याग धर्म को सर्वोत्कृष्ट माना है और वह होता है दान करने से। अत. हमें दान करते समय प्रमाद नहीं करना चाहिए।

दान बिना मुक्ति नहीं

दान बिना मुक्ति नहीं, दान बिना यश नाहिं।
कीजे दान विवेकसे, पाप मैल धुल जाँहि ॥८७॥

वास्तव में मोक्ष की प्राप्ति बिना दानके नही होती है, यह सिद्धान्त सर्व मान्य है। दान देने वाले को सुसंगति मिलती है, पुण्य की प्राप्ति होती है। अपने संसार-भ्रमणका नाश देने वाले ही करते हैं और कर्मों का नाश भी संसार-भ्रमण छूटने पर होता है। इन दानधर्म को जिनागम मे सर्वोत्कृष्ट धर्म माना है। इसलिए दान और धर्म में किसी प्रकार का भेद नही माना है, दोनों एक ही हैं, क्योंकि दान भी निवृत्तिरूप होता है और धर्म भी निवृत्तिरूप होता है। पर क्रोधादि कषायों को त्याग कर स्वभाव की जो प्राप्ति होती है वह धर्म है और ममत्वभाव को पर वस्तु की ओर से त्याग कर उसे दूसरे के हितार्थ दे देना दान है। दान से पापकर्म नष्ट होते हैं। पापकर्म समाप्त होने से बढ़ते हैं—भाव धर्म की ओर, और धर्म करने से ही संसार में शान्ति पूर्वक जीवन जिया जा

सकता है – धर्मरूपी नाव का आलम्बन लेकर ही संसार-सागर से पार हुआ जा सकता है। धर्म के बिना हमारा जीवन पशु के समान है।

अतः हम जगावें अपनेमें त्याग धर्मको और कर देवें प्रारम्भ चार प्रकार के दानों को निवृत्तिभाव से। तभी होगा चलना मुक्ति-पथ की ओर, सत्पथ की ओर। सच्ची भावना से, यश और नाम की कामना बिना किये, कर्त्तव्य समझते हुए दान करना ही वास्तविक दान है। हम चाहते हैं भक्ति और मुक्ति। पर-वस्तु के त्याग अर्थात् दान के बिना वह नही प्राप्त होती।

जो दान मुक्ति-पथ की ओर ले जाने में कारण है उसके दो भेद हैं। एक है द्रव्यदान और दूसरा है भावदान। अब पहले द्रव्यदान को बतलाया जा रहा है।

द्रव्यदान का स्वरूप

रक्षा होवे धर्मको, करो द्रव्यका दान।
जहाँ नहीं उपयोग है, ना फल मिले महान् ॥८८॥

स्व-पर उपकार के लिए अपना द्रव्य मोक्षमार्ग की प्रवृत्तिरूप कार्यों में वितीर्ण करना, लगाना आन्तरिक इच्छा से, वह कहा जाता है द्रव्य-दान। जिस दान के देने से दाता की आत्माका कल्याण नही हो वह दान नही है। और जिस दान से पात्र की आत्मा का कल्याण नहीं हो वह भी वास्तविक दान नही है। तथा जिस दान से मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति नही होती हो वह भी सही दान नहीं है। सच्चा दान तो वही है जो ले जाये भव्यजीवों को मुक्ति-पथ की ओर।

वास्तविक दान वही है जो मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति करने वालों में दिया जाता है। उस दान के आचार्यों ने "समदत्ति, अन्वयदत्ति और पात्रदत्ति" इत्यादि प्रकार के भेद बताये हैं। ये सब मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति कराने वाले हैं। उनका स्वरूप आगे बताया जायेगा।

दान देने का मुख्य उद्देश्य मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति है, जिस दान से मोक्ष-मार्गकी प्रवृत्ति हो वह दान वास्तवमे सम्यक् दान है अन्यथा कुदान ही है। जिस दानके देनेसे हमारी आत्मा का कल्याण नहीं होता है वह दान भी दान नहीं है। दान तो वही है जिसके देने से हमारी आत्मा में आत्म-गुणो की विशुद्धि, सन्मार्ग की प्राप्ति, परिणामों की समुज्ज्वलता और धर्मकी श्रद्धा सातिशय वृद्धिगत हो। सम्यक्दान इसे ही कहते हैं। कीर्ति या नाम के लिए पापकार्यों मे दान देना वास्तव मे दान नही है। कीर्ति के लिए दिया गया दान द्रव्य का निष्फल व्यापार है। प्रायः ऐसे दान में विवेक और विचार सर्वथा नहीं रहता है। इसलिये हम

अपनी कीर्त्तिके लिए पापकार्योंमें दान प्रदान करते हैं, मिथ्यात्वकी वृद्धिके कार्योंमे दान देते हैं। जिससे आत्मामे मिथ्यात्वकी प्रवृत्ति या पापोंकी प्रवृत्ति निरन्तर होती है। इस सबका फल यह होता है कि ऐसे दानसे नीति, सदाचार और सन्मार्गका लोप हो जाता है और दुराचार, अन्याय एवं मिथ्यात्व बढ़ जाता है।

जिस दानसे मिथ्यात्वकी वृद्धि हो या सन्मार्गकी हानि हो अथवा अन्याय और पापोकी प्रवृत्ति हो उस दानका फल हमे अवश्य महादुःखदायी प्राप्त होगा। जिस प्रकार सम्यक्दानसे हमें सन्मार्गकी प्राप्ति और स्वर्ग, मोक्ष आदि सद्‌गति-की प्राप्ति होती है उसी प्रकार मिथ्यात्वादि के बढाने वाले कुदानो से हमें मिथ्यात्वकी प्रवृत्ति और तिर्यंच, नरकादि खोटी गतियोके दुःखोकी प्राप्ति होती है।

जिस दानसे अन्याय, असदाचार बढता हो और सन्मार्गका नाश होता हो वह दान जीवोको दुःखदायी और आत्माको दुर्गतिका पात्र बनाने वाला होगा, क्योंकि जैसे तलवारसे तो एक जीवका वध होता है परन्तु ऐसे अज्ञानरूप दानसे अनन्तजीवोका वध हो जाता है। जिस दानसे कुज्ञानकी प्रवृत्ति होती हो वह दान तत्काल ही ससारमे मिथ्यात्वकी वृद्धि, सन्मार्गका लोप, अन्यायकी प्रवृत्ति, सदाचार और नीतिके नाशका कारण हो जाता है और उसका फल हमको अवश्य भोगना पडता है। इसका प्रत्यक्ष अनुभव सबको है। फिर भी न जाने क्यो ख्याति-लाभके वशीभूत होकर हम लोग मिथ्यात्व-पोषण करते जा रहे हैं। इसलिये हम उसी दानको करे, जो ले जाये मुक्तिपथकी ओर, क्योकि दानका मुख्य उद्देश्य सन्मार्गकी प्रवृत्ति है। जिस दानसे सन्मार्गकी प्रवृत्ति नहीं होती हो वह दान दान नही है, किन्तु अनेक दुखोका सामना कराने वाला कुदान ही है।

दानका दूसरा उद्देश्य अपनी आत्माका कल्याण होता है। अगर दान देकर भी हम दुर्गतिके पात्र हो गये तो समझना चाहिए कि हमने अपने धन को विषैले अजगरके मुखमे रखनेका प्रयत्न किया है, जिसमे धनका दुरुपयोग तो हुआ ही किन्तु हमारी आत्मा भी सकटमे पड गई, क्योंकि अजगरके मुखमे जाके प्रत्येक वस्तु जहर बन जाती है उसी प्रकार कुपात्ररूपी अजगर को दिया हुआ दान भी जहरके तुल्य बन जाता है।

विषैले अजगरके मुखमें हाथ डालनेसे एक बार ही प्राणोंका नाश होता है किन्तु जिस दानसे हमारी आत्मा अनन्त संसारकी भागी हो, भव-भवमें दुःखोंकी पात्र हो तो ऐसा दान सचमुचमे भयंकर दुःखका कारण है। अन्धे कुएँमें धनको डालकर सुखसे रहना उत्तम है, परन्तु कुदान देकर अनन्त

संसारको बढ़ाना अच्छा नहीं है। अगर हमारा दिया हुआ दान सन्मार्ग के लोप करने में काम आ रहा है तो उस दानके कुफलसे हमें अनन्त संसारी अवश्य बनना पड़ेगा। यदि वेश्या को दान दिया जायेगा तो वह उस दानके द्रव्यसे शराबका पान करेगी और व्यभिचार फैलायेगी। उसी प्रकार धर्मसे च्युत तथा सम्यग्ज्ञानसे रहित जीवों को दान दिया जायेगा तो उसे लेकर वह मिथ्या मार्ग का प्रचार करेंगे और उस दोषके भागी हम ही तो होंगे।

दान अपनी शक्तिके अनुसार कम दिया जाये या अधिक, किन्तु उस दानसे आत्माका कल्याण अवश्य होना चाहिये, सुखकी प्राप्ति और संसारका नाश अवश्य होना चाहिये। और अनेक के कल्याण हुए भी हैं। शास्त्रोमें ऐसे कई उदाहरण आते हैं, उनमें से कुछ उदाहरण प्रसङ्ग आनेपर आगे बताये जायेंगे। इसलिए वास्तविक दान वही है कि जिससे हमारी आत्माका कल्याण हो।

दानका तीसरा उद्देश्य पात्रकी आत्माका कल्याण करना है। पात्र वह है जो लगा हो मोक्षमार्ग पर, करता हो आचरण आगमानुसार। यदि दानसे पात्रकी आत्मा अविचल रूपसे, निर्बाध, निराकुल और परम शान्तिसे मोक्षमार्ग को सिद्ध कर लेवे तो समझना चाहिए कि उस दानके प्रभावसे पात्रने मोक्षमार्ग प्राप्त कर सर्वाङ्ग रूपसे आत्म-कल्याण किया। ऐसे दानके देनेवालों को भी मोक्षमार्गके प्रकट करनेका उत्तम फल प्राप्त होता है।

जो पात्र मोक्षमार्गके साधक हैं वे तो दानसे मोक्षमार्गकी वृद्धि, सदाचार की प्रवृत्ति, मिथ्यात्व और अन्यायका नाश करते हैं। किन्तु जिन पात्रोंके विचार और आचरण मोक्षमार्गके साधक नही हैं किन्तु बाधक हैं, ऐसे पात्र दानका दुरुपयोग कर अपनी आत्माका अकल्याण अहित करते हैं।

असलमें मोक्षमार्गका नाश और मोक्षमार्गका अभ्युत्थान पात्रपर निर्भर है। यदि पात्र स्वयं मोक्षमार्गका नाश करनेवाला है, मलिन और स्वार्थ विचारों से संसारको अपने स्वार्थमें फँसाकर अन्याय और हिंसादि पापोमें लगाने वाला है तो उस पात्रको दान देकर अपने हाथसे ही मोक्षमार्गका नाश करना है। हम अपने हाथसे ही ऐसे कुपात्रोंको दान देकर मोक्षमार्गका नाश करते हैं, और वह अपात्र, दानके फलसे अपना मतलब बनाता हुआ केवल पापकार्योंमें अपनी आत्माको डुबा देता है।

दानका लक्षण एवं समुद्देश्य जिनागममें यही माना है कि जिस दानके प्रदान करनेसे दाता और पात्रकी आत्माका कल्याण होता हो और जिस दानसे मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति निरन्तर वृद्धिगत होती रहे, वही दान वास्तवमें दान है। यह द्रव्यदान—अपनी धनादिक वस्तुओ को सत्पात्रको मोक्षमार्ग की सिद्धिके लिए दिया जाता है।

द्रव्यदान देने का मुख्य अभिप्राय परम्परारूप से अथवा साक्षात्‌रूप से मोक्षमार्ग की सिद्धि प्राप्त करना, मोक्षमार्ग की वृद्धि करना, मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति करना तथा मोक्षमार्ग की प्रभावना व्यक्त करना है। जिस दान के प्रभाव से मोक्षमार्ग या जिनशासन यथार्थरूप से वृद्धिगत हो, सुरक्षित हो, पवित्र और निर्दोष रूप से जगत् के जीवों को अपनी महिमा के द्वारा कल्याण का सर्वोत्कृष्ट मार्ग बतलाकर बहुत से जीवों को सन्मार्ग में लगाकर जो अनन्त सुखका खजाना बना देवे, वह है द्रव्यदान। वह दान कृत, कारित और अनुमादनासे तीन प्रकार से दिया जाता है।

भावदानका स्वरूप

द्रव्य साथमें भाव हो, तो भवनाशक दान।
त्याग भाव ही सुखद है, निश्चय मोक्ष निदान ॥८९॥

आत्मा के भावो से राग-द्वेष का परित्याग आत्मा से हो अथवा राग-द्वेष की प्रवृत्ति जिन भावों से क्षीण होती हो वह भावदान है। भावदान को धारण करने वाले विशुद्ध आत्मा को सब प्रकार के पापो का परित्याग करना पड़ता है। राग-द्वेष में प्रवृत्ति करानेवाली इन्द्रिय और मनकी प्रवृत्ति को विषय-कषायो से हटाकर सयम की तरफ सयोजित करनी पड़ती है। इसलिये भावदान करने वाले विशुद्ध आत्मा को हटाकर सर्व प्रकार का परिग्रह, सर्व प्रकार का आरम्भ, समस्त प्रकार के विषय और समस्त प्रकार के पापरूप कार्यक्रम से समष्टि या व्यष्टि रूप में छोडने पडते हैं। इसलिये यह दान सर्वोत्कृष्ट है, साक्षात् मोक्ष को सिद्ध करने वाला है।

ये दोनो प्रकार के दान मोक्ष के साधक और निवृत्ति रूप हैं। दोनों प्रकार के दान दाता और पात्र की आत्मा का कल्याण करने वाले हैं। इसलिये दान की महिमा अपरम्पार है।

धर्मतीर्थ के आदि प्रवर्तक श्रीपरमेश्वर परमात्मा भगवान् श्री ऋषभदेव हैं। युग के प्रारम्भ में धर्मतीर्थ की सबसे प्रथम प्रवृद्धि आपने ही जग के कल्याणार्थ प्रारम्भ की थी। इन्द्रदेव ने गर्भ मे आने के पहिले ही प्रभुकी महान् महिमा प्रकट की थी और जन्म कल्याणक के समय महान् स्तुतियो के द्वारा भगवान् को जगत् का उद्धारक, मोक्षमार्ग प्रवर्तक, धर्मतीर्थ का स्थापक आदि महान् पदो से सम्बोधित किया था। यह सब द्वादशाङ्ग के वेत्ता इन्द्रदेव का स्तवन तत्काल उत्पन्न हुए बालक का केवल एकही भावना से किया गया था और वह भावना यह थी कि हे भगवन्! त्रिलोकके समस्त प्राणियोगे से आपमें ही अचिन्त्य शक्ति है, आपकी प्रवृत्ति लोकोत्तर है, जिससे आप धर्मतीर्थकी स्थापना करेंगे। धर्मतीर्थकी

स्थापना करने के ही कारण भगवान् श्री ऋषभदेवको आदिब्रह्मा माना है, जगत्-उपकारी अर्थात् समस्त भव्यजीवो का कल्याणकर्ता माना है।

धर्मतीर्थ के स्थापन कर्ता का माहात्म्य जिस प्रकार देव, इन्द्र, नरेन्द्रों ने अनन्त वाङ्.मय में गाया है उसी प्रकार दानतीर्थ की स्थापना करने वाले महान् पुण्यशाली महाराज श्रेयास राजा का माहात्म्य देव, इन्द्र और भरत चक्रवर्ती ने प्रशस्त वाङ्.मय में सर्वोत्कृष्ट बतलाया है। धर्मतीर्थ की वृद्धि और उत्पत्ति दान-तीर्थ से ही होती है। इसलिए दानतीर्थ सर्वोत्कृष्ट तीर्थ है। दान करने वाला दाता, पात्र और जगत् के जीवो का कल्याण करने वाला है। आदिपुराण में भी इसी प्रकार से लिखा हुआ है—

श्रद्धादिगुण-सम्पन्नः पुण्यैर्नवभिरन्वितः।

प्रादात् भगवते दानं श्रेयान् दानादि-तीर्थकृत् ॥

भावार्थ—श्रद्धादि गुणो से सुशोभित और नव प्रकार की पुण्य-विधि से महाराज श्रेयास ने श्री भगवान् आदिनाथ को सर्वप्रथम आहार दिया, इसलिए सुशोभित महाराजा श्रेयास दान के आदि तीर्थकृत् हुए।

जिनसेनाचार्य ने दानतीथ के प्रवर्तक श्रेयास महाराजा को दान का तीर्थकृत् माना है। तब दाता की आत्मा का दान से कल्याण होना सहज बात है। अनेक जोव दान के माहात्म्य से उसी भव में सम्यग्दर्शन आदि को प्राप्त होकर मोक्ष के अधिकारी परमात्मा हुए हैं और दान के पात्र स्वय तीर्थंकरदेव व अनन्त मुनीश्वर दान के प्रभाव से रत्नत्रय की साधना कर मोक्ष के अधिकारी परमात्मा हुए हैं।

जिस दान की महिमा "अहो दानमहो दानं" देवो ने भक्ति से गाई है उस दान से ही मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति अद्य-पर्यन्त चली आ रही है।

भक्तिभाव द्वारा सम्यक् दान के प्रदान करने से मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति अनन्त समय पर्यन्त चली जाती है, इसलिये दान के प्रदान करने से दाता और पात्र की आत्मा का कल्याण होता ही है, साथ ही दान से मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति होती है, जिससे असंख्य जीव मोक्षमार्ग में सलग्न हो जाते हैं और सन्मार्गगामी हो जाते हैं। बस, इसलिये दान की महिमा "अहो दानमहो दान" इन शब्दों में की जाती है और देवगण इसलिए पचाश्चर्य प्रकट करते हैं।

यही बात वासुपूज्याचार्य ने अपने दानशासन नाम के ग्रन्थ में पृष्ठ एक में बतायी है—

धर्मकारणपात्राय धर्मार्थं येन दीयते।

यद्द्रव्यं दानमित्युक्तं तद्धर्मार्जन-पण्डितैः ॥५॥

धर्ममूर्त्ति और धर्मके कारणभूत ऐसे धार्मिक पात्र को धर्म की वृद्धि के लिए धार्मिक दाता जो स्वपरोपकारार्थ द्रव्य का उत्सर्जन (त्याग। करता है, उसको गणधरादि देव दान कहते हैं।

दान के किन्ही ने चार भेद बताये हैं, किन्हीं ने पाँच और किन्हीं आचार्यों ने आठ भेद कहे हैं। वे सब दान उन पहिले बताये हुए चार प्रकार के पात्रदान में ही आ जाते हैं। अब यहाँ दान का कथन करने से पूर्व यह बताया जायगा कि दान देने के लिए पात्र कौन हैं और उनके कितने भेद हैं।

दान-पात्र

दान पात्र को दीजिये, करके कुछ पहचान ।
बिना पात्रका दान जो, ना फल देय महान् ॥६०॥

यहाँ पात्र, दान देने योग्य कौन हैं और उनके कितने भेद हैं, यह समझना अनिवार्य है, क्योकि जिस प्रकार उत्तम खेत में बोया हुआ बीज ही सही रूप से फलदायी हो सकता है, ऊसर जमीन मे बोया हुआ बीज फलीभूत नही हो सकता, वह तो मात्र बीज को फेंकना ही है। इसी प्रकार पात्र को दिया दान भी फलदायी, मुक्तिपथ की ओर ले जाने वाला होता है, अपात्र को दिया हुआ दान निष्फल ही है, अगर फल देगा तो खोटा।

पात्रभेद

आचार्यों ने दान देने योग्य कुल तीन पात्र बताये हैं। पात्रो के वैसे कई भेद होते हैं—पात्र, कुपात्र, अपात्रादि। यहाँ पात्रो का ही स्वरूप बताया जा रहा है। पात्रो का स्वरूप बताते हुए आचार्यों ने इस प्रकार लिखा है—

उत्कृष्ट-पात्र-मनगारमणुव्रताढ्यं,
मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम् ।
निर्दर्शन-व्रत-निकाययुतं कुपात्रं,
युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं हि विद्धि ॥

उत्तम पात्र अनगार अर्थात् मुनिराज है मध्यम पात्र पंचमगुण स्थानवर्ती व्रती श्रावक हैं और जो सम्यग्दर्शन ने विभूषित है वे जघन्य पात्र हैं। तथा व्रतो से सहित एव सम्यग्दर्शण से जो रहित हैं वे कुपात्र है, और जो दोनो से रहित हैं, देव-शास्त्र-गुरु की मान्यता जिनके नही है और धर्म के विरोधी हैं, खोटे धर्म का या एकान्तवाद का प्रचार करने वाले है वे समस्त अपात्र हैं।

उत्तम पात्र

अन्तरङ्ग और बाह्य संग अर्थात् चौबीस प्रकार के परिग्रह से रहित, २८ मूलगुणो में युक्त, मित्र-शत्रु में, कॉच-कचन में, महल-मसान मे, वन्दक और

निन्दक में, सरस-नीरस में समान दृष्टि रखने वाले, राग-द्वेष के त्यागी, जो कहीं एकान्त निर्जन वन, मन्दिर में निवास करते हैं और कभी-कभी ध्यान की सिद्धि के लिए अटपटी विधि लेकर किसी नगर की ओर निकल पड़ते हैं आहार लेनेकी इच्छा से, ऐसे दिगम्बर महात्यागी साधु ही उत्तम पात्र हैं। इन्हें चार प्रकार के दान देने वाले उत्तम भोग भूमि के अकथनीय सुखों को भोगते हैं।

मध्यम पात्र

मध्यम पात्र हैं–पंचम गुणस्थानवर्ती आर्यिकायें, जो मात्र एक वस्त्र अर्थात् सोलह हाथ की साड़ी और पीछी, कमण्डलु और शास्त्रमात्र परिग्रह अपने पास रखती हैं। उनको उपचार से महाव्रती माना जाता है। ऐलक और क्षुल्लक भी मध्यम पात्र हैं। ऐलक के पास मात्र एक कौपीन अर्थात् लँगोटी, पीछी, कमण्डलु और शास्त्रके अलावा परिग्रह नही होता। ये केशलोंच करते हैं, भोजन भी हाथ मे लेकर करते हैं। आहार खड़े होकर भी लेते हैं और बैठकर भी। क्षुल्लको के पास एक कोपीन और एक पछेवड़ी अर्थात् एक लँगोटी और एक चद्दर होती है तथा एक पीछी और कमण्डलु। इसके अलावा और परिग्रह नहीं रखते, शास्त्रादि ज्ञान के उपकरणों को छोड़कर। माताजी, ऐलक और क्षुल्लक एक-एक वस्त्र और भी रखते हैं, परन्तु काम में एक ही जोड़ी को लेते हैं, दूसरी तो इसलिए रखते हैं कि एक को पहनकर दूसरे को सुखा दे। एक समय में दोनो को काम मे नही लेते। अगर लेते हैं तो दोषी हैं।

ऐलक और क्षुल्लक यह आज दो नामो से पुकारे जाते हैं। वास्तव में दोनो का नाम आगम में आचार्यों ने क्षुल्लक ही बताया है। क्षुल्लक का अर्थ होता है छोटा अर्थात् मुनि से छोटा। इनका नाम आगम मे लघुनन्दन और युवराज भी पाया जाता है। मुनि, आर्यिकाये, ऐलक तथा क्षुल्लको की करीब-करीब एक ही चर्या होती है। मुनिराज के सवारी मे बैठने का त्याग होता है, क्योंकि वह परिग्रह के त्यागी हैं, जीवदया का पालन करते हैं। इसी प्रकार आर्यिकाये और ऐलक, क्षुल्लक भी परिग्रह के त्यागी हैं और जीवहिंसा से सदा दूर रहते हैं, इसलिये सवारी में बैठने का उनके त्याग होता है। त्याग तो उनके स्वाभाविक ही होता है, करना नही पड़ता अर्थात् ऐलक, क्षुल्लक भी पैदल यात्रा करते हैं, सामने चार हाथ जमीन को देखकर गमन करते हैं।

प्रतिमाधारी श्रावक को भी अपेक्षाकृत मध्यम पात्र में ही माना है। इन पात्रो को श्रद्धा और भक्ति के साथ आहार देनेसे भी भोग-भूमि की प्राप्ति होती है। वहाँ के सुखोंका वर्णन करना किसी सामान्य व्यक्तिके हाथकी बात नही है।

जघन्य पात्र

अभी तक उत्तम तथा मध्यम पात्रके स्वरूपको बताया गया, अब बताया

जा रहा है जघन्य पात्रों का स्वरूप। जो व्रती तो नहीं हैं परन्तु सम्यग्दर्शन से विभूषित हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन के अष्ट अङ्गों से मण्डित हैं, पच्चीस दोषों से रहित हैं, संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होने का शाश्वत विचार करते रहते हैं, सप्ततत्त्वों के स्वरूप को अच्छी तरह से जानते हैं, कार्य करते समय भी उसमें रत नहीं होते, सासारिक भोग और नाना प्रकार की सम्पदायें उनके पास सब होते हुए भी उनमें रत या आसक्त नहीं होते वह जघन्य पात्र है।

सम्यग्दृष्टि के सम्बन्ध मे किसी कवि ने इस प्रकार कहा है कि—

चक्रवर्तीकी सम्पदा, इन्द्र सरीखे भोग।
काक बीट सम गिनत हैं, सम्यक्दृष्टि लोग ॥

ऐसे जो सम्यक्दृष्टि अव्रती जन हैं उन्हें जघन्य पात्र कहते हैं। इनके अलावा सब अपात्र और कुपात्र हो हैं।

दाता

मानी क्रोधी लालची, कपटी और लबार।
इनको दाता नहिं कहा, ले डूबे मझधार ॥६१॥

अभी तक बताया स्वरूप पात्रो का, अब कुछ कथन दाता का किया जाता है, क्योकि दान देने के लिए जिस प्रकार का सुपात्र उत्तम समझा जाता है और उसका फल भोगभूमि या मोक्षमार्ग की सिद्धिरूप समझा जाता है, उसी प्रकार यदि दाता उत्तम है तो दान का फल भी दाता को उत्तमरूप से प्राप्त होगा। यदि दाता निकृष्ट है, अयोग्य है, हीनाचारी है, मिथ्याधर्म का उपासक है, क्रिया से अनभिज्ञ है, लोभी है, लालची है, पाप क्रियाओं को करने वाला है, सदाचार से शून्य है, विवेक रहित है, दाता के चिह्न से रहित है, निन्द्य है, पतित है, जाति-च्युत है, सज्जाति रहित है, हिंसादि पातको को करने वाला है, श्रावक की पवित्र क्रियाओ से सर्वथा शून्य है, रोगी है हीनाग है, विकलांग है, उन्मत्त है, अतिशय वृद्ध है, अन्धा है, अमनस्क है, और देव-शास्त्र गुरु की श्रद्धा से विहीन है, व्यसनी है तो वह सुपात्र को दान देने का अधिकारी नहीं है। अगर ऐसे दाता पात्र को आहार देते हैं, तो वह पात्र पात्र नहीं रहेगा, अपात्र हो जायेगा, क्योकि कुदान और कुपात्र का असर पात्र के भावो पर पड़ता है, ऐसे आगम में अनेकों उदाहरण आये हैं।

दाता कैसा हो

दाता उसको कहत हैं, जो पाले निज कर्म।
श्रावक गुणसे हो सहित, लहे धर्मका मर्म ॥६२॥

जो भव्यजीव सप्त व्यसनों का त्यागी हो, अर्थात् जुवा नहीं खेलता हो, चोरी नहीं करता हो, मास नही खाता हो, शराब नहीं पीता हो, वेश्यागामी नहीं हो, शिकार नही खेलता हो, परस्त्रीरमण का त्यागी हो, और अष्ट मूलगुणों का धारी हो, (अष्ट मूलगुणो का कथन पहले कर आये हैं ।), भोजन दिन में करता हो, देवदर्शन प्रत्येक दिन करता हो, बिना छना पानी नहीं पीता हो, प्रत्येक दिन स्वाध्याय करता हो, अभक्ष्य का त्यागी हो, श्रावकों की और भी क्रियाओं का पालन करने वाला हो, पवित्र विचार और कुल वाला हो वही श्रावक है। ऐसा जो दाता हो वही दान दे सकता है अन्यथा नहीं।

दाताके गुण

श्रद्धा भक्तिस्तुष्टिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा शक्तिः ।
यत्रैते सप्तगुणाः दातारं तं प्रशंसन्ति ॥

श्रद्धा, भक्ति, तुष्टि, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और शक्ति यह सात गुण दाता के है।

श्रद्धागुण

अपने मनमें ऐसी श्रद्धा करना कि यह पात्र मेरे समस्त पापों को नष्ट करने में समर्थ है और मेरी दरिद्रता आदि दु:खो को दूर करने में समर्थ है, दुर्बुद्धि को हरण करने वाला है। इस प्रकार पात्र में अद्वितीय प्रेम करना यही कहलाता है श्रद्धागुण।

भक्ति गुण

साधु जब तक आहार करते हैं तब तक उनके समीप स्थिर रहना और आहार के दोषों को परिशोधन कर बडी भक्ति-भावना से आहार देना तथा भोजनशाला में मार्जार, कीट इत्यादि जन्तुओ को न आने देने के लिए भवन निरीक्षण करना, भोजन के अन्त मे साधुगुणों को भक्ति सहित नमस्कार करना, अभ्यन्तर परिणामो से साधु मनको तृप्त करना और निरन्तर पात्र की सेवा में अभ्यन्तर भावो से लवलीन रहना तथा पात्र के गुणों में अटूट प्रेम-भाव का होना यही है भक्तिगुण।

तुष्टिगुण

जिस प्रकार चन्द्र के उदय होने से समुद्र वृद्धि को प्राप्त होता है, परम आह्लादित होता है, उसी प्रकार मुनिरूपी चन्द्र का उदय होने पर दाता के हृदय का सतोषरूपी समुद्र आह्लाद से परिपूर्ण हो जावे उसको ही कहते हैं तुष्टिगुण।

विज्ञानगुण

जो दोष को शमन करनेवाला अर्थात् वात, पित्त, कफादि दोषोंको शमन करने वाला, यथासाध्य व्याधि का हरण करने वाला, पात्र की प्रवृत्ति के अनुकूल

और स्वस्थता को प्रदान करने वाला, निद्रा, सर्दी, गर्मी आदि के उपद्रवों का नाश करने वाला, हलका, पथ्यरूप, निरन्तर स्वाध्याय को वृद्धिगत करने वाला, ऐसा आहार अपने ज्ञान से, समस्त प्रकार के विचारो से पात्र की अनुकूलता पूर्वक अपने हाथ से दान करता है, कराता है, वह दाता का विज्ञानगुण है।

अलुब्धतागुण

दाता अपने भावों से अपनी समस्त विभूति और समस्त सामग्री पात्र के लिए प्रदान करने में भावों में संकोच नही करता है, बल्कि पात्र मे धन का सदुपयोग होने से अपने भावो से आल्हादित होकर निर्ममत्व भाव को प्रकट करता है वह है अलुब्धतागुण दाता का ।

क्षमागुण

जो दाता संक्लेश परिणाम और क्रोध परिणामो का त्याग करता है, भय तथा हठ का परित्याग करता है, दुर्वचन तथा दुर्भावो का परित्याग करता है और कषायो से होने वाली दुश्चेष्टा का परित्याग करता है वही दाता है क्षमावान् ।

शक्तिगुण

पात्र को सहज देखने मात्रसे ही जिनके मनमें पात्रलाभ की उमग सहसा वृद्धिगत होती है और अपनी शक्ति को नहीं छुपाकर निरन्तर पात्रदान करने के लिए जो दाता समुद्यत रहता है वही शक्तिगुण को धारण करने वाला।

इस प्रकार के दाता के सप्त गुणो का विवेचन किया। दाता के और भी बाह्य शुद्धि आदि अनेक गुण होते हैं।

उत्तमपात्र-दान-विधि

उत्तम नवधा भक्तिसे, मध्यम पदके योग्य ।
देते जो नर दान हैं, भोगभूमि हो योग्य ॥९३॥

अभी तक श्रावक के कुछ गुणों का विवेचन किया। अब किया जाता है कथन इस बात का कि किस पात्र को कैसे दान देना चाहिए। सुबह नौ बजे के बाद अपने द्वार पर हाथ मे कुछ लोटा, नारियल आदि माङ्गलिक वस्तु लेकर खड़े हो जाना चाहिए। जब मुनिराज आवे तब हर्षित होते हुए उनका पड़गाहन करे। अर्थात् उन्हें आते देखकर मधुर और मन्द आवाज में इस प्रकार बोले— 'हे स्वामिन् ! नमोऽस्तु नमोऽस्तु, अत्र अत्र, तिष्ठ तिष्ठ, आहार जल शुद्ध है।' अगर उन मुनिराज की विधि मिलेगी तो वे आपके पास आकर रुक जायेंगे। उनको रुकते देखकर बोले कि 'मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, आहार-जल शुद्ध है, गृह प्रवेश कीजिये।' इतना कहकर भूमि-शुद्धि करते हुए आगे हो जाय। अपने आगन मे किसी काष्ठ की चौकी को पहले ही बिछा जाय।

आंगन में आते ही मुनिराज को बोले—"स्वामिन्" उच्च आसन पर विराजिये। जब मुनिराज आसन पर बैठ जाये तब एक लोटा मे शुद्ध जल लेकर उनके चरणो मैं प्रक्षालन करे और गन्धोदक मस्तिष्क से लगाये। तदनन्तर अष्ट द्रव्य से उनका पूजन करे और तीन प्रदक्षिणा देवे तथा पंचाङ्ग नमस्कार करे। इसके पश्चात् बोले—"मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, आहार-जल शुद्ध हैं, हे स्वामिन् ! भोजनशाला मे प्रवेश कीजिये।" मुनिराज खड़े होकर प्रवेश कर दें भोजनशाला में। वहाँ उनको बिछे हुए पाटे की ओर इशारा करते हुए कहें—"स्वामिन् ! उच्च आसन पर विराजिये।" जब मुनिराज विराजमान हो जायें तब चौके में बनाई हुयी समस्त वस्तुओ को एक थाली में लगाकर मुनिराज के सामने लावे और एक-एक वस्तु के नाम बतावे। फिर मुनिराज जिसे निकलवाऍं उसे निकाल देना चाहिए, बची हुई शेष वस्तुओं को किसी ऊँची टेबिल पर रक्खे और एक लोटे में जल भरकर फिर से शुद्धि बोले तथा उनके हाथ धुलावे। जब मुनिराज सिद्धभक्ति बोलकर खड़े हो जाये तब सर्वप्रथम उन्हे पानी, दूध देना चाहिए। उसके बाद क्रम से सभी वस्तुओ को देना चाहिए। बीच-बीच में पानी भी दिखाते जाना चाहिए। जब मुनिराज का आहार सानन्द हो जाये तब आनन्दित होकर भजन-विनती आदि बोलना चाहिए। मुनिराज को अच्छी तरह से नमकादि के पानी से या गरम पानी से कुल्ला कराकर किसी कपड़े से उनके हाथ पैर साफ करे। फिर उनको कुछ समय अपने आगन मे आसन पर विराजमान कर उनके मुख से आशीर्वचन सुने। उनके कमण्डलु मे अठपहरा पानी भरे और उनको यथा स्थान पहुचाने जाये।

मध्यमपात्र-विधि

जिस प्रकार से उत्तम पात्र को आहार दिया जाता है उसी प्रकार से मध्यम पात्र को भी आहार दिया जाता है। आर्यिका माताओ की आहार-विधि प्रायः मुनिराज के समान होती है, कुछ-कुछ क्रियाओ मे थोड़ा-बहुत अन्तर होता है। जब ऐलक या क्षुल्लक आहार लेने के लिए आवें तो उनको देखकर इस प्रकार से बोले—"हे स्वामिन् ! इच्छामि, अत्र अत्र, तिष्ठ तिष्ठ, आहार-जल शुद्ध है।" तदनन्तर शुद्धि बोलकर गृह-प्रवेश करावे और आँगन मे उच्चासन पर बिठाकर उनके पैर धुलावें, कहीं—कहीं अर्घ चढाने को भी बताया है। भक्ति के साथ शुद्धि बोलकर, नमस्कार कर भोजनशाला में प्रवेश करावे। उसी प्रकार समस्त वस्तुओं को थाली में लगाकर उनके सामने बताये। ऐलक हैं तो उनको शुद्धि बोलकर हाथ में आहार देवे। अगर क्षुल्लक हैं तो उन्हे एक छोटा-सा बर्तन उनके हाथ में दे दे। अगर वे अपना बर्तन लाये हों तो देने की आवश्यकता नही है। मुनि महाराज की तरह से भक्तिपूर्वक उन्हें आहार

करावे। अगर ब्रह्मचारी आदि व्रती श्रावक होवें तो उनको पहले दिन ही निमंत्रण देना चाहिए और दूसरे दिन उन्हें सविनय बुलाकर लाना चाहिए। भोजन की थाली सामने लाकर 'आहार-जल शुद्ध है; भोजन ग्रहण कीजिए' ऐसा कहकर वन्दना करे और उनके समीप बैठकर उन्हें भक्ति से भोजन करावे।

शुद्धि

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि साधु शुद्धि क्यों बुलवाते हैं? साधु शुद्धि इसलिए बुलवाते हैं कि वह भोजन कही उनके निमित्त से तो नही बनाया गया, अशुद्ध द्रव्यो के द्वारा तो नही बनाया गया, है कही बिना स्नान किये, बिना शुद्ध वस्त्र पहने तो नही बना लिया है? शुद्धियो के अलग-अलग अर्थ इस प्रकार से हैं। मन:शुद्धि-मन शुद्धि बोलके श्रावक मुनि महाराज को यह बताता है कि मेरा मन बिलकुल मलिन नही है, शुद्ध है। वचनशुद्धि-वचनशुद्धि बोलके श्रावक महाराज को यह बताता ह कि मैं जो कुछ बोल रहा हूँ वह मिथ्या नही है सत्य है। कायशुद्धि-कायशुद्धि बोलके श्रावक साधु महाराज को यह बताता है कि मैं उच्च कुल का हूँ, मेरा पिण्ड बिलकुल शुद्ध है, स्नान करके ही आया हूँ, वस्त्र भी शुद्ध है। आहार-जलशुद्धि-आहार-जलशुद्धि बोलकर श्रावक साधु को यह बतलाता है कि जल शुद्ध कुएँ से छानकर जिवाणी कुएँ मे पहुँचाकर लाया गया है। उसी से यह भोजन बनाया है। इस भोजन मे जितना द्रव्य लगा हुआ है वह सब शुद्ध अर्थात् न्यायपूर्वक कमाई का है। सभी पदार्थ मर्यादित हैं और हमने यह भोजन आपके लिए नही बनाया है, अपने लिए बनाया है।

साधु आहार कैसे लेवें

ज्यों गौ चरती घासको, ना जड़ लेय उखार।
त्यों ही साधु आहार लें, पूरा करें न पार॥

साधुओं को आहार लेते समय यह पूर्ण ध्यान रखने की आवश्यकता है कि जो कोई वस्तु चौके के अन्दर बनी हुई हो उसमे आधी अपने आहार मे ले, अगर सबको लेते हैं तो दोषी हैं और श्रावक सब वस्तु को देता है, अपने लिये नही रखता तो उसे कैसे ज्ञान हो सकेगा कि मैंने जो मुनिराज को आहार कराया है वह खट्टा है या मीठा है; या कड़वा है। अगर चौके मे कोई विशेष स्वादिष्ट वस्तु श्रावक ने बनायी हो और उस सबको साधु ले ले, तो महान् दोष लगता है, अगर साधु को यह मालूम हो जाय कि चौके में यह चीज कम है और फिर भी उस सबको ले, तो दोषी है। साधु को तो सब देख-भाल आगे-पीछे का ध्यान करके आहार करना चाहिए।

आहार कैसा हो

शुद्ध होय अरु सरल हो, निज शक्तिके योग्य ।
उत्तेजक भी हो नहीं, वही भोज्य के योग्य ॥९५॥

आजकल जहाँ जायें वहीं यह देखने में आता है कि आहार आगम से विरुद्ध बनता है। शास्त्रों में अनेको जगह लिखा हुआ है कि श्रावक जैसा भोजन प्रत्येक दिन स्वयं करता है वैसा ही त्यागी, व्रती आ जाये तो उसे करा देता है। आजकल क्या होता है कि अगर साधु नगर मे है और उसके लिए चोका लगाना है तो किलो-दो किलो फल चाहिये, कई तरह का मेवा चाहिये, कई प्रकार के मिष्ठान्न भी बनाते हैं। क्या ऐसा आहार बनाना आगम अनुकूल है? आगम अनुकूल भी नहीं है और उन गरीबों के ऊपर यह बहुत बड़ा अन्याय है, जिनके पास पैसे का अभाव है। आज अगर साधुओं के लिए चौका लगाया जाए तो स्वाभाविक तीस-चालीस रुपये का खर्चा होता है। पुष्ट आहार देकर श्रावक यह समझते हैं कि साधुओं का धर्मध्यान अच्छा होगा। यह उनकी बहुत बड़ी भूल है कि पुष्ट आहार देने से साधुओं का धर्मध्यान अच्छा होगा। पुष्ट आहार लेने से धर्मध्यान नहीं होता है, प्रमाद आता है। जब सामायिक करने के लिए बैठते हैं तो नींद आती है, पूरी रात भी सोते रहते हैं। साधुओं को सही रूप से धर्मध्यान तभी हो सकता है जब श्रावक अपने लिए जो रोटी दाल बनायें उसमें से ही साधुओ को दे दें। आजकल यह भी देखा जा रहा है कि किसी के चौके में एक दिन साधु नही पहुँचे, तो उसका पूरे दिन आर्त्त-रौद्र-ध्यान होता रहता है, कारण कि लोग अपनी शक्ति से बाहर होकर चौका लगाते हैं। अतः श्रावक को चाहिये कि वे अपनी शक्ति से अधिक द्रव्य दान में न दें। दान देने से मन में अपार हर्ष होना चाहिये; परन्तु होता नही है। इन सबका कारण है देखा-देखी। अगर साधुओं को धर्मध्यान कराना है और दाता को दान का वास्तविक फल प्राप्त करना है तो शक्ति अनुसार सादा आहार दें।

जघन्यपात्र दान

जो साधर्मी बन्धु हैं, उन्हें प्रेमके साथ ।
जो भी देते दान हैं, वह भी चाले साथ ॥९६॥

सम्यग्दृष्टि अव्रती श्रावक को भोजन कराना ही कहा जाता है जघन्य-पात्र-दान। अगर कभी हमारे घर कोई साधर्मी भाई आवे तो उसे आते ही आहार-पानी पूछना चाहिये। हमारे नगर के मन्दिरजी में कोई बाहर का श्रावक दर्शनार्थ आवे तो उससे पहले उसके गाँव का नाम पूछे, जाति आदि से परिचय

करे, फिर उनसे सविनय प्रार्थना करें कि आज तो भोजन हमारे यहाँ ही करना होगा आपको। भोजन बन जाने पर उसे अपने घर पर ले जाये और बड़ी श्रद्धा व भक्ति के साथ आनन्द मनाते हुए उसे आहार करावे तथा उसका यथायोग्य सत्कार करे। यही है आहारदान जघन्यपात्र के लिये।

आजकल सुनने में आता है कि साधुओं को आहार कराना कठिन हो गया है, क्योंकि सामने अनेकों कठिनाइयाँ दिखाई देती हैं। यह श्रावकोंका कहना बिलकुल गलत है। आज है कमी भावो की। अगर मुनि को आहार नहीं दे सकते, तो श्रावक को तो समय पर भोजन के लिए पूछ सकते हैं। परन्तु आज यह बिलकुल देखने में नहीं आता है कि कोई अपने घर साधर्मी श्रावक को भोजन कराता हो। आज से कुछ ही वर्ष पूर्व ऐसा था कि नगरके मन्दिरजी मे भी कोई श्रावक बाहर का दर्शनार्थ आ गया तो बड़े उत्साह के साथ उससे सविनय प्रार्थना करते थे भोजन के लिये। मगर आज देखा जाता है कि यह पद्धति समाप्त जैसी हो गई हो। हम आज अपने साधर्मी भाई को पानी तक को नहीं पूछते हैं, और बात करते हैं जैन सिद्धान्त की, आत्म-स्वभाव की ! आत्म-स्वभाव की प्राप्ति होना तो असम्भव ही है, क्योंकि हमारा जो श्रावक धर्म है उसका ही पालन हम नही कर सकते। अतः हम चाहते हैं सुधार समाज में, तो वात्सल्य गुण को अपनायें और पात्रो को यथाशक्ति दान देते रहे।

ज्ञानदान

> **महादान इक ज्ञान है, इस अन्दर सब दान।**
> **क्रमसे यदि बढ़ता रहे, देता केवलज्ञान ॥८७॥**

दान की प्रशंसा आचार्यों ने अनेकों शास्त्रो में की है। वह दान चार प्रकार का है, जैसा कि पूर्व में बता आये हैं। आहारदान का कथन भी ऊपर आ गया है। दूसरा दान है शास्त्रदान या ज्ञानदान उपरोक्त पात्रों की आवश्यकता के अनुसार शास्त्र भेंट करना, मन्दिरजी में शास्त्र भेंट करना, अगर कोई पढ़ना चाहता है तो उसे यथाशक्ति सहयोग देना, यही है ज्ञानदान अर्थात् शास्त्र दान।

औषधिदान

इन उपरोक्त पात्रों की किसी प्रकार रुग्ण अवस्था हो जाने पर किसी वैद्य की सलाह लेकर शुद्ध औषधि देना, उनका रोग से छुटकारा कराने के लिए उपाय करना ही कहा जाता है औषधिदान।

अभयदान

किसी भी पात्रको किसी प्रकारका भय हो रहा हो किसी कारण वश; तो

उसके भय को दूर करें, उसे साहस बँधायें, यही है अभयदान। अभयदान का भी महत्त्व कुछ कम नहीं, क्योंकि कभी-कभी भय के कारण देखा जाता है भोले प्राणी प्राण खो बैठते हैं। अतः अभयदान देकर प्राणदान देना ही है।

आहारदान

महादान आहार भी, अभय औषधि होय।
कारण यह है मुक्तिका, ध्यान ज्ञान सब होय ॥९८॥

दान से बढ़कर संसार में पुण्य नहीं है, क्योंकि पात्रो को यथायोग्य दान देने से वे अपना धर्मसाधन करते हैं। अगर साधुओं को आहार नही दिया जाय, तो क्या वह तप कर सकते हैं ? क्या वह स्वाध्याय कर सकते हैं ? क्या वह उपदेश दे सकते हैं ? कभी नहीं। इसलिए समस्त दानों में एक आहारदान ही श्रेष्ठ है। आहार मिलेगा, तभी वह शास्त्रो का पठन-पाठन कर ज्ञानी बन सकते हैं, और जब वह ज्ञानी होगे तभी धर्म का उपदेश दे सकते हैं। यह सब काम न्यायपूर्वक उपार्जन किये हुए धन का दाता दान दे, तभी हो सकते हैं, भावों के साथ दान दिया जाय तभी हो सकते हैं।

द्रव्य कैसा हो

जैसा हो आहार जल, वैसा ही हो ध्यान।
जैसा होता बीज है, वैसा ही फल जान ॥९९॥

साधुओं को चोरी और अनीति से कमाये हुए धन का दान दिया जायेगा तो क्या वह अपना आत्म-कल्याण कर सकते हैं ? सही मार्गदर्शन दे सकते हैं ? कभी नहीं। आजकल सुनने में आता है कि साधुओं में झगड़े होते हैं। क्या कभी यह भी विचार किया कि इसका कारण क्या है ? अगर पुण्य की प्राप्ति के लिए तथा पात्र के कल्याण के लिए दान देना है तो कम-से-कम क्यों न दें परन्तु सही द्रव्य का ही दान दें। अगर पात्र को भ्रष्ट करने के लिये या नाम कमाने के लिए ही दान देना है तो चाहे जैसा दें। पर मात्र नाम के लिए दिया हुआ दान फल-दायी अर्थात् पुण्य का कारण नहीं होगा और जरा-सा भी भावों के साथ दिया हुआ दान अपूर्व पुण्य का कारण होता है। इसी के सम्बन्ध में एक छोटा-सा दृष्टान्त यहाँ बताया जा रहा है।

दृष्टान्त

काफी समय पूर्व की बात है। हस्तिनापुर नगर में एक धनपाल सेठजी थे। उनके पूर्व पुण्य के कारण सम्पदा अटूट थी, परन्तु न जाने किस पाप कर्मके उदय से लड़का एक ही था, वह भी पागल जैसा। सेठजी को दानवीर की पदवी

मिली हुई थी, क्योंकि कोई दूसरा सेठ एक हजार का दान करता तो वह स्वाभाविक दो हजार का करते। कोई एक लाख मुद्रा खर्च करके मन्दिर या धर्मशाला का निर्माण कराये तो वह दूना द्रव्य खर्च कर बनवाते।

घर में पैसा होने के कारण सेठजी के पुत्र धर्मपाल का विवाह भी अच्छे घर में हो गया। कुछ दिन के पश्चात् सेठजी तो स्वर्गस्थ हो गये और धर्मपालको कुछ ज्ञान नही था, इसलिये उसने सेठजी के एकत्रित किये हुए समस्त धन को समाप्त कर दिया यहाँ तक कि घर मे एक पैसा भी नही रहा। एक दिन उस लड़के की धर्मपत्नी ने कहा अपने पति से कि आपने सब पैसा बर्बाद कर दिया, अब खाने को घर में कुछ भी नही है। अब आप ऐसा करो—मेरे पीहर चले जाओ। वहाँ का जो राजा है वह पुण्य को गिरवी रखकर पैसा देता है। आपके पिताजी ने अनेक प्रकार के दान दे देकर अपूर्व पुण्य को प्राप्त किया है। उसमे से कुछ गिरवी रख आना और पैसा ले आना। धर्मपाल भोला-भाला था। इसलिए पत्नी के कहने के अनुसार चल दिया। रास्ते मे खाने के लिए कुछ दाल चावल ले गया। कुछ दूर वन मे जाके देखता है तो भीड लगी हुई है। समीप में गया, तो देखा, एक महा मुनिराज विराजे हुए हैं और श्रावको को दान के फल का उपदेश दे रहे हैं। उसने उपदेश सुनकर जो पास मे खिचड़ी थी वह समीप में बनते हुए एक चौके मे दे दी। उस श्राविका ने ही दाल-चावलों की खिचड़ी बना ली और धर्मपाल ने भी कहा कि आप भी स्नान कर लीजिये और मुनिराज को आहार देने के लिए आ जाइये। उसने ऐसा ही किया। मुनिराज भी कर्मयोग से उसके पास जाकर ही खड़े हो गए। उन सबने नवधा भक्तिपूर्वक मुनिराज को पड़गाहकर आहार दिया! आहार देते समय धर्मपाल को जो आनन्द आ रहा था वह अकथनीय है। मुनिराज के आहार बाद श्रावको ने धर्मपाल को भोजन के लिए कहा। उसने अधिक मना भी किया परन्तु उन्होने कहा कि हमारा मुख्य कर्त्तव्य है कि आपको घर से भोजन किये बिना नही जाने दे। उसे मजबूरी वश भोजन करना पडा। मन मे विचार करता हुआ आगे बढ़ा और सोचने लगा कि आज का दिन तो अच्छा ही है, जिसमें मैंने मुनिराज को आहार दे दिया। परन्तु मुझे कुछ फल नहीं मिल सकता, क्योंकि मेरी जरा-सी खिचड़ी थी, उससे अधिक मैं खा आया।

कुछ समय में वह राज-दरबार में पहुँचा और कहने लगा कि मैं कुछ पुण्य गिरवी रखने आया हूँ। मन्त्री जी ने कहा—अच्छा लाओ लिखकर दे दो। धर्म काँटे पर आपके पुण्य को तौलकर पैसा दे दिया जायेगा। उसने ऐसा ही किया। अपने पिताजी के द्वारा दिये हुए दान में से कुछ का नाम लिखकर धर्मकाँटे पर रखा, तो धर्मकाटे का पलड़ा झुका भी नही। इस पर मन्त्री ने कहा

कि यह दान तो मात्र नाम के लिए दिया गया है । इसका फल कुछ भी नहीं है । धर्म पालने तेजी मे आके पिताजी के किये हुए समस्त दान को लिखकर धर्मकाँटे पर चढ़ा दिया, परन्तु फिर भी काँटा झुका नही । मन्त्री ने कहा कि यह भी दान मात्र नाम के लिए ही दिया गया है, पिताजी का दिया हुआ दान तुम्हारे काम नही आ सकता, तुमने जो कुछ पुण्य किया हो उसे और अजमा लो । धर्मपाल ने कहा कि मैंने तो जीवन मे धर्म जैसा तो कोई काम ही नही किया । आज मुनिराज को आहार जरूर दिया । परन्तु उसमे तो पुण्य होने का सवाल ही पैदा नही होता । क्योकि जितना मेरा अन्न था उससे अधिक मैं जीम आया । मन्त्री ने कहा फिर भी उसे अजमा लीजिये, आहारदान का फल अटूट होता है । उसने लिखकर धर्मकाँटे पर रक्खा तो मन्त्री कहने लगा कि जितना तुम्हारा यह पुण्य है उतना पैसा तो हमारे खजाने मे भी नही है परन्तु तुम्हे जितना चाहिये उतना ले जाओ । उसने विचार किया कि जब मेरे पल्ले इतना पुण्य है तो लक्ष्मी तो अपने आप आयेगी, मैं यहां से क्यो लूं ? ऐसा विचार कर चल दिया अपने नगर की ओर । घर पहुँचने से पूर्व ही उसके मकान की एक दीवार टूटकर गिर पडी, जिसमे अटूट सम्पत्ति थी । उसे पाकर वह बड़ा खुश हुआ । यह सब आहार-दान का प्रभाव, ऐसा विचार करने लगा ।

यह था भावना का फल । सेठजी ने करोडो रुपये दान में लगा दिये, परन्तु फल कुछ भी नही, धर्मपाल ने जरा-सी खिचडी का आहार देकर ही उस पुण्य को प्राप्त कर लिया, जिसके सामने राजसम्पदा भी कुछ नही । अतः मुमुक्षु-जनो को चाहिये कि ख्याति-लाभ की लालसा को त्यागकर दान दे ।

दान की महिमा अपरम्पार है । जो दान किसी कारणवश न दे सके तो कारित और अनुमोदना अवश्य करे । आचार्यों ने शास्त्रो मे यहां तक लिख दिया है कि जिस घर मे से सुपात्र को दान नही दिया जाता है वह घर, घर नही श्मशान के समान है, उसका मालिक मुर्दे के समान है, और परिवार के सदस्य काक, चील के समान हैं, जो दिन-प्रतिदिन उस शव को चोंचे मारकर चूंटते रहते हैं ।

भारत में सर्वप्रथम सम्राट-चक्रवर्ती महाराजा हुए हैं । वे अपने श्रावक धर्म का पूर्णतया पालन करते थे । षट् आवश्यक कर्मों मे यह दान भी आवश्यक कर्म है । महाराजा भरत भी प्रतिदिन पात्र को दान देकर ही भोजन करते थे । उन्होने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना ही इसलिए की थी, कि मुनिराज तो नगर में आहार लेने के लिए रोज तो आते नही हैं और पात्र को आहार देना जरूरी है ।

निष्कर्ष

इस मनुष्य जन्म की प्राप्ति हमें किसी महान् पुण्य के कारण हुयी है। इसमें आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल, निरोगी काया, सत् पुरुषो की संगति, यह सब उत्तम निमित्त मिलने पर भी जो दान, पूजादि उत्तम आचरण नही करता है उसे आचार्यों ने पशु समान माना है, इसलिए प्रत्येक श्रावक को दानादि शुभ कार्य अवश्य करना चाहिए।

दान धर्मका मूल है, पाप मूल अभिमान।
दान करो निश-दिन सभी, त्याग नाम और मान ॥१००॥

श्रावक के इस भव व परभव मे सुखदायी षट्आवश्यक कर्मों का संक्षेप में कथन किया। यह आवश्यक कर्म इसलिए कहे जाते हैं कि इनका पालन करने से ही मनुष्य को श्रावक कहा जाता है। जिस प्रकार मकान की छत पर चढ़ने के लिए प्रथम सीढी पर पैर रखना आवश्यक होता है, ठीक उसी प्रकार मोक्ष-महल पर चढ़ने के लिए प्रथम सीढ़ी है—षट् आवश्यक कर्म। जो श्रावक षट् आवश्यक कर्मों का पालन नही करता है वह श्रावकपने को प्राप्त नही कर सकता। जो श्रावकपने को प्राप्त नही कर सकता उसे सम्यग्ज्ञान नही हो सकता और जिसे सम्यग्ज्ञान नही होगा उसे सम्यक्चारित्र नही हो सकता तथा सम्यक्-चारित्र के बिना नही चलना हो सकता मुक्ति-पथकी ओर। अत हम न भूलें अपने आवश्यक कर्मों को। आवश्यक कर्मों का पालन करना जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का पालन करना है।

वीर नि० सं० २५०१ में मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी (दिनांक २५ दिसम्बर १९७४) को जयपुर नगर मे दीवान अमरचन्द जी के मन्दिर में क्षु० सन्मतिसागर द्वारा लिखित यह श्रावको के षट् आवश्यको का संक्षेप से विवेचन करने वाला "मुक्ति-पथकी ओर" नामक पुस्तक का द्वितीय भाग सम्पूर्ण हुआ।

ॐ शान्तिः

卐

मुक्तिपथकी ओर

तृतीय भाग

चारों गतिके बीचमें, दु:ख सहे अति घोर।
जो इनसे भयभीत है, दृष्टि कर निज ओर ॥१०१॥

चारों गति में दु:ख पाये हमने।

अभी तक परम्परा से चतुर्गति दु:खनाशक, षट् आवश्यक कर्मों का विवेचन किया गया। अब उन चारों गतियों का संक्षेप मे वर्णन किया जा रहा है, जिनमें अनेक प्रकार के दु:ख भोगते-भोगते हमें अनन्तकाल व्यतीत हो गया। अगर इनसे बचने का (निकलने का) उपाय नहीं किया तो अनन्तकाल और व्यतीत हो जायेगा। कौन-कौन गति में हमने कैसे-कैसे दु:ख प्राप्त किये उन्हीं को यहाँ बताते हैं।

तिर्यंच गतिका दु:ख— अनादिकाल तो हमने निगोद में ही व्यतीत किया था। यहाँ पर एक श्वास में अष्टादशम भाग में जन्म-मरण किया था। यहाँ एक बार में मरण करने में कितना कष्ट होता है, वहाँ श्वास के अन्दर अठारह बार जन्म-मरण करने मे हमें कितना अपार दु:ख हुआ होगा, जिसे हम आज भूल गये।

निगोद से निकलकर पञ्च स्थावरों में अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय जीवो में उत्पन्न हुए। वहाँ भी खोदने, गर्म करने, बुझाने, श्वास लेने और छिन्न-भिन्न करने आदि अनेक प्रकार से कष्टों को सहन करना पड़ा।

जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति अति दुर्लभता से होती है, उसी प्रकार हमे स्थावर से त्रसपर्याय की प्राप्ति हुई, वहाँ पर भी अपार दु:ख पाये। कभी दो इन्द्रिय लट आदि होकर अनेक बार मरे, कभी पिपीलादि तेन्द्रिय पर्याय में अनेक दु:ख पाये, कभी चौ-इन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होकर घोर दु:ख उठाये, कभी बड़े जीवो के पग तले आकर मरे, कभी अन्य जीवों 'छिपकली आदि के' द्वारा खाये गये। कभी पचेन्द्रिय भी हुए तो मन के बिना निपट अज्ञानी रहे। कभी मन सहित भी हुए तो अपने से बलवानो का शिकार बने। और भी अनेक प्रकार के ताडन, मारन, भूख, प्यास, छेदन, भेदन, भरारोपण आदि अनेक कष्ट सहे। पशुओ के दु:ख आज भी तो हमारे सामने हैं, देखो उस पुल पर चढ़ते हुए तांगे मे जुते घोड़े को, चार की जगह आठ बैठे हैं, मालिक

ऊपर से हन्टर जमा रहा है। क्या इस समय इस घोड़े के मनके दुःख को हम जान सकते हैं ? जब हम भी पशु योनि मे थे तब इन सभी दुःखों का हमको भी सामना करना पड़ा था। अब हमें ऐसा काम करना है, ताकि पुनः तिर्यंच गति में न जाना पडे, यह असह्य दुःख पुनः न सहना पड़े।

नरक गति के दुःख — तिर्यंच और मनुष्य पर्याय में जब घोर पाप किये, तब अति संक्लेशमय भावों से मरणकर घोर नरक गति मे जा पड़े। नरक की भूमि स्पर्श करते ही इतना दुःख हुआ कि यहाँ पर एक हजार बिच्छू भी एक साथ काटें तो भी उतना दुःख न हो। जिस प्रकार बॉल जमीन पर जोर से पटकने पर पुनः ऊपर की ओर उठती है, फिर धीरे-धीरे जमीन पर ही रह जाती है, इसी प्रकार जब हम नरक मे गये, तो वहाँ की भूमि के कष्ट को सहन न कर सके, तब बार-बार ऊपर की ओर उछले। उन नरकों के अन्दर पीप और खून की नदियाँ बह रही हैं, तथा कृमिकुल अर्थात् बारीक कीड़ों के समूह से भरी हुई हैं वहाँ की दाह जब हमसे सहन न हुई तब उन नदियों के अन्दर जा कूदे। दाह को उत्पन्न करने वाली नदियो मे से व्याकुल हो भागे, तब सेमर वृक्ष के नीचे छाया लेने की इच्छा से आये, वहाँ पर तलवार के समान वृक्ष के तीक्ष्ण पत्तों ने हमारे शरीर के टुकडे-टुकडे कर दिये। टुकड़े-टुकड़े हो जाने पर भी नरकों में शरीर पुनः पारेवत् जुड जाता है। कुछ नारकियो ने आकर खौलते हुए कड़ाह में पटक दिया। किसी ने आकर शरीर को खण्ड-खण्ड कर दिया। असुर-कुमार के देवों ने आकर हमारे पूर्वभव के बैर को स्मरण कराकर और भिड़ा दिया। भूख-प्यास इतनी लगी कि समुद्र का पानी पीकर, तीनो लोक का अन्न खाने पर भी वह न मिटती, परन्तु अन्न का कण और पानी की बूंद भी वहाँ पर न मिली। शीत और उष्णता भी वहाँ पर इतनी थी कि मेरु के समान लोहे का गोला भी गलके भस्म हो जाये, और भी अनेक प्रकार के दुःख वहाँ हमने अनेक सागर पर्यन्त उठाये, जिनका विवेचन करोड़ो जिह्वाओ के द्वारा भी नही किया जा सकता। अगर इन महान् दुःखों से हमारा मन भयभीत है तो ऐसे कार्य न करे कि हमको नरक जाना पडे।

मनुष्य गति के दुःख—नरको मे सागरो पर्यन्त घोर दुःख उठाने के बाद किसी महान् पुण्यकर्मके कारण मनुष्य गतिका बन्ध किया। वहा से आकर माँ के पेट में नवमास पर्यन्त वह घोर दुःख पाया, जिसका विवेचन करना शक्य नही है। कभी अल्प आयु लेकर के आये तो पेट मे ही मरण को प्राप्त हो गये। जिस समय जन्म हुआ था उस समय क्या दशा हुई थी, अगर आज भी विचार करें, तो उस कष्ट का कुछ भाग तो अनुभव में आ ही जाता है। कभी पैदा होते ही समाप्त हो गये, अगर बच भी गये तो बालक बन खेल-कूद में गँवा दिया, कुछ ज्ञान नही किया। किया भी तो सच्चा ज्ञान नहीं लौकिक ज्ञान किया.

जो कि अकेला रहने पर धर्म कार्यों में बाधक होता है। लौकिक ज्ञान करना बुरा नहीं है, परन्तु उसके साथ-साथ धर्मज्ञान भी होगा तो सार्थकता है, अन्यथा तो किया न किया समान ही है। युवा अवस्था में हितपथ पर न लगकर विषय-भोगों में ही लीन रहे; और चाहरूपी दाह में जलते रहे। और भी अनेक प्रकार के दुःखों का सामना करना पड़ा। कभी निर्धन बने तो दुःखी रहे, कभी धनवान भी बने तो पुत्रादि के बियोग के दुःखों से दुःखी रहे। कभी अंगहीन होने से दुःखी रहे। कभी बुद्धिहीन होने से दुःखी रहे। कभी और भी सांसारिक अनेक प्रकार के कारणों से दुःखी रहे वृद्ध हुए तो शरीर ने साथ नहीं दिया, इन्द्रियाँ भी शिथिल हो गयीं, चला-फिरा नहीं गया। अर्थात् अर्धमृत के समान अवस्था हो गयी। उस समय हमने कितने दुःख सहे यह हमारा मन ही जानता है, या केवलज्ञानी। मरते समय जो महान् दुःख हुआ था, उसे तो हम आज भी आंशिक रूप से जान सकते हैं, दूसरों का मरण देखकर। अतः अब हमें यह नरजन्म मिला है, इसे भी उसी प्रकार विषय-भोगों में न व्यतीत कर दें। बाल्यकाल में सम्यग्ज्ञान प्राप्त करें। युवा अवस्था में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थों को यथाशक्ति अपनायें, तो बुढ़ापा भी अर्धमृतक के समान व्यतीत नहीं होगा। अन्यथा तो पूरे जीवन भर दुःख ही दुःख है।

देवगति के दुःख—कभी अकामनिर्जरा की तो हम भवनत्रिक में उत्पन्न हुए, वहाँ भी विषय-चाहरूपी अग्नि में जलते रहे और भी अनेक कारणों से दुःखी रहे। कभी अगर विमानवासी भी हुए तो सम्यग्दर्शन के बिना दुःखी रहे। दूसरे देवों का वाहन बनना पड़ा तब महान् दुःखी हुए। अर्थात् चारों गतियों के अन्दर सुख है ही नहीं, सुख तो अपने अन्दर है। अतः हमें चतुर्गतियों से बचना है।

इस दुःखमय चतुर्गतिरूप संसार में भ्रमण कराने वाली अर्थात् दुःख देने वाली कषाय है, अतः अब आगे कषाय के स्वरूप को बताया जा रहा है, उसे समझकर, अगर हमें चतुर्गति दुःख से बचना है तो, त्याग करें।

कषाय

विषय-कषायनसे गये, राज, तेज अरु वंश।
तीनों ताला दे गये, रावण, कौरव, कंस ॥

अनादिकालसे हमें दुःखोंका सामना करना पड़ रहा है। इसका मूल कारण है कषाय। कषाय के वशीभूत होकर खो बैठते हैं अपने शान्ति-स्वभाव को, नहीं

रहता है विवेक कार्य-अकार्य का, कर बैठने हैं सर्वथा अहित अपना, कर्मों की कोटाकोटि की स्थिति का कारण भी यही तीव्र कषाय है। कषाय के चक्कर में आकर बडे-बड़े महापुरुष भी अपना अनिष्ट कर बैठते हैं, हमारी तो बात ही क्या है। अतः इन्द्रिय भोग इतने दुःख के कारण नही हैं जितनी कि कषाय है। अतः अगर हम अपना कल्याण करना चाहते हैं तो अपनी शक्ति अनुसार कषाय का परित्याग कर दे इसी क्षण।

कषाय किसे कहते हैं ?—जो हमारे ज्ञानादि गुणो को घातकर हमें चारो गतियो में चौरासो लाख योनियो मे भ्रमण कराये, भटकाये उसे कषाय कहते हैं। कषाय का स्वरूप जीवकाण्ड गोम्मटसार में इस प्रकार बताया है—

सुहदुक्खसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स।
संसारदूरमेरं तेण कषाओ त्ति णं बेंति ॥२८२॥

अर्थ—जीव के सुख-दुःख आदिरूप अनेक प्रकारके धान्य को उत्पन्न करने वाले तथा जिसकी ससाररूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्मरूपी क्षेत्र (खेत) को यह कर्षण करती है अर्थात् जोतती है, इसलिए इसको कषाय कहते हैं।

कृष् विलेखने, धातु से यह कषाय शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है जोतना। यहाँ कषाय का अर्थ किसान के स्थान पर लेना। जिस प्रकार किसान लम्बे-चौडे खेत को इसलिए जोतता है कि उसमे बोया हुआ बीज अधिक से अधिक प्रमाण मे उत्पन्न हो, ठीक उसी तरह कषाय द्रव्यापेक्ष या अनाद्यनिधन कर्मरूपी क्षेत्र अर्थात् खेत को जिसकी कि सीमा बहुत दूर तक है इस तरह से जोतता है कि शुभाशुभ फलरूपी धान्य इसमे अधिक से अधिक उत्पन्न हो।

बँधने वाले नवीन कर्मों मे अनुभागबंध और स्थितिबध इसीका कार्य है।

कषाय का दूसरा अर्थ—कृष् धातु की अपेक्षा से कषाय शब्द का अर्थ बताकर अब हिंसार्थक कष् धातु की अपेक्षा से कषाय शब्द की सिद्धि बताते है-"सम्यक्त्वादिविशुद्धात्मपरिणामान् कषति हिनस्ति इति कषायः" शुद्धात्मा के सम्यक्त्वादि विशुद्ध परिणामो को नष्ट कर दे अर्थात् स्वभावरूप मे न रहने दे वह कषाय है। दो प्रकार से कषाय शब्द को सिद्धि बतायी गयी। अब इसको समझने के लिए इसके भेदो को बताया जा रहा है। इसे अच्छी तरह समझ कर महान् दुःख का कारण जान इसका पूर्णतया त्याग करना है।

कषाय के भेद—कषाय के उदय स्थानो की अपेक्षा से असख्यात लोकप्रमाण भेद हैं। मूलमे कषायके चार भेद हैं--क्रोध, मान, माया और लोभ। इन चार भेदो के सोलह भेद हो जाते हैं, उनका क्रम इस प्रकार है-अनन्तानुबन्धी

क्रोध, मान, माया, लोभ। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। इसमे नौ नोकषाय और मिला देने पर कषायो के पच्चीस भेद भी हो जाते हैं। लेश्यादि की अपेक्षा से भी कषाय के भेद होते हैं।

किस कषाय का क्या कार्य है—अनन्तानुबंधी कषाय क्या काम करती है ?

अनन्तानुबंधी कषाय सम्यक्दर्शन नही होने देती।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय का क्या काम है ?

अप्रत्याख्यानावरण कषाय का काम एकदेश चारित्र को नही होने देना अर्थात् अणुव्रतो को नही धारण करने देती।

प्रत्याख्यानावरण कषाय का काम क्या है ?

प्रत्याख्यानावरण कषाय का काम सकलचारित्र को नही होने देना अर्थात् पाँच महाव्रत, तीन गुप्ति, पाँच समितियो को अपनाकर मुनि-महाव्रती नही बनने देना।

सज्वलन कषाय का क्या काम है ?

सज्वलन कषाय अपने रहते हुए यथाख्यातचारित्र को नही होने देती।

इस प्रकार से संक्षेप में चारों कषायों का कार्य बताया। अब इनका स्वरूप किसी ने इस प्रकार भी बताया है—

क्रोधात् प्रीतिविनाशःस्यात्, मानात् विनयसंहृतिः।
मायया प्रत्यय-हानिः, लोभात् सर्वगुणक्षयः॥

अर्थात् क्रोध से प्रीति का नाश होता है, मान से विनय चली जाती है, मायाचार से विश्वास नही रहता और लोभ का तो कहना ही क्या, इसके रहते हुए सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।

क्रोधस्वरूप— क्रोधपिशाच से कौन परिचित नही है ? यह जिस किसी को लग जाता है, उसे जड से नष्ट कर देता है। इसका दूसरा नाम ज्वाला भी कहा जाता है, अग्नि नाम भी इसका सार्थक है। जिस प्रकार अग्नि मे पड़कर कुछ भी नही बचता, सभी भस्म हो जाता है, उसी प्रकार जो कोई क्रोधरूपी अग्नि मे पड़ जाता है वह जलकर भस्म हो जाता है, अर्थात् स्वभाव से च्युत हो जाता है, ज्ञानादि गुणो को खो बैठता है। इस क्रोध से बढकर संसार में हमारा कोई अहितकारक नही है। क्रोध से बढके कोई अन्य शत्रु नही है, क्रोध से बढ़कर ससार मे कोई दूसरा पाप नही है। क्रोध अनर्थों का मूल कारण है, इस

लिये क्रोध का तो सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। ऐसा ही किसी कवि ने कहा है—

नास्ति क्रोधसमं पापं, नास्ति क्रोधसमो रिपुः।
क्रोधो मूलमनर्थानां, तस्मात् क्रोधं विवर्जयेत् ॥

उदाहरण—जिसके ऊपर यह क्रोधरूपी भूत सवार हो जाता है, वह सभी सुध-बुध भूल जाता है, और अपना अहित कर बैठता है। देखो, दीपायन जैसे महामुनिराज को क्रोध आ गया, तो द्वारिका तो भस्म हो ही गयी परन्तु वह भी उसी जगह पर भस्म हो गये, भस्म ही नही क्रोध के फलस्वरूप नरक भी जाना पडा। और भी शास्त्रो मे अनेक उदाहरण आते हैं। यहाँ भी अनेको दृश्य देखने मे आते हैं, सुनने मे आते हैं कि कोई क्रोध के आवेश मे फाँसी लगाकर मर गया, कोई आग लगाकर इत्यादि। कई काड तो हमने अपनी आँखो से देखे हैं।

सच्ची घटना—कुछ ही दिन पूर्वकी बात है। पडोस में पति-पत्नि में, पति साडी नही लाये, इसलिये झगडा हो गया। पति को कुछ क्रोध आ गया तो उन्होने ठोक-पीट कर दी, पत्नी को भी क्रोध इतना आ गया कि जिसकी सीमा नही, क्रोध के आवेश मे और तो कुछ नही बना, दो छोटे-छोटे नन्हे-मुन्ने बच्चे थे उनको साथ लेकर जगल के बहाने से लोटा पानी का लेकर गाँव से बाहर गई और पास के ही कुएँ में दोनो निरपराध बालकों को पटक दिया तथा ऊपर से आप भी कूद गयी!

गाँव मे शोर मच गया, लोग दौडे आये, तैरने वाले कुएँ मे रस्सी के सहारे कूंद पड़े, तो उन बच्चो की माँ को जीवित निकाल लिया, परन्तु उन अल्पायु बालको के प्राण पखेरू उड चुके थे। वे पति-पत्नि अभी तक जीवित हैं, लेकिन पुत्ररत्न का मुख आज तक देखने को नही मिला। उस दिन के क्रोध के लिए आज तक पछता रहे हैं।

इस क्रोधपिशाच से हमें अवश्य ही बचना चाहिए और इससे युद्ध करने के लिए, इस पर विजय प्राप्त करने के लिए शान्तिरूपी खड्ग हर समय हाथ में (साथ मे) रखना चाहिए।

क्रोध के भेद—क्रोध चार प्रकार का होता है-प्रथम पत्थर की रेखा के समान, द्वितीय पृथ्वी की रेखा के समान, तृतीय धूल की रेखाके समान, चतुर्थ पानी की रेखा के समान। ये चारो ही प्रकार के क्रोध त्याज्य हैं। परन्तु सबसे अहितकारक नरकगति मे ले जाने वाला पत्थर की रेखाके समान तीव्र क्रोध है। जिस प्रकार पत्थर की रेखा सहज मे नही मिटती उसी प्रकार यह क्रोध भी

सहज में नहीं छूटता। अगर तुमने इस अनन्तानुबन्धी क्रोध को जीत लिया तो समझो लो, सभी को जीत लिया, क्योंकि शेष तीन प्रकार के क्रोध इसके समान बलवान नही हैं।

क्रोध बराबर रिपु नहीं, दूजा जगमें कोय।
सन्मति ले तजि क्रोधको शान्ति मिलेगी तोय ॥१०२॥

मान त्याज्य क्यों ?—अभा हमने यह समझा कि क्रोध का स्वरूप क्या है और वह त्याज्य क्यों है ? वस्तु के स्वरूप को समझे बिना उसमें हेयोपादेय बुद्धि अर्थात् कौन छोड़ने योग्य है, कौन ग्रहण करने योग्य है, ऐसा निर्णय नही हो पाता, यथार्थ ज्ञान हुए बिना सच्चा त्याग नहीं हो पाता, अतः वस्तु के स्वरूप का अच्छी तरह से ज्ञान कर लेना हमारा पहला काम होना चाहिये।

अब देखना यह है कि मान त्याज्य क्यों है। यह मान भी क्रोध की तरह हमारे निजी स्वभाव का घात करता है। दुर्गति का द्वार है, अपयश का एजेन्ट अर्थात् अपकीर्ति को संसार में हवा के समान फैलाने वाला है अतः मान दूर से ही त्याज्य है।

इस मान के फंदे में फँसकर अर्थात् इसकी रक्षा हेतु रावण जैसोंने अपने प्राण दे दिये, भरतेश्वर महाराज ने भाई बाहुबली के ऊपर चक्र चला दिया था, और भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। आज भी तो देखा जा रहा है, अभिमान से कइयों के मस्तक ऊँचे रहते हैं अपमान होने पर वे अपने आपको नहीं सम्भाल पाते, सर्वथा अपना अहित कर बैठते हैं और जो इस अनर्थकारक मान का त्याग कर देता है उसके गले में सर्वसुखों को करानेवाली मुक्तिरूपी राजकुमारी आकर वरमाला पहना देती है अर्थात् वरण कर लेती है।

मान के भेद—क्रोधकी तरह यह मान भी चार प्रकार का है। पत्थर के समान, हड्डी के समान काष्ठ के समान और बेंत के समान। पहले मान को पत्थर की उपमा इसलिये दी गई है कि जिस प्रकार पत्थर झुकता नही है, टुकड़े भले ही हो जाये, उसी प्रकार तीव्र मानी भी झुकता नही, चाहे उसकी जान भले ही चली जाये। मान के फलस्वरूप उसे नरको का दुःख प्राप्त होता है। काष्ठ के समान देर से झुकने वाले मान का फल भी तिर्यंचगति है। शेष दो प्रकार के मान विशेष अहितकर नहीं हैं। अपने विनयगुण की रक्षा के लिए हमें अभिमान का तिरस्कार कर भगा देना होगा, मान से मित्रता छोड़ देनी पड़ेगी।

मान बराबर जगतमें, ना अनरथका मूल।
तजा मान सन्मति, नहीं रहे मूलमें भूल ॥१०३॥

माया त्याज्य क्यों ?

अभी हमने क्रोध और मान के स्वरूप को समझकर यथाशक्ति त्याग किया। अब इन्ही के समान हमारे अन्तरङ्ग के वैभव को ठगने वाली, जो दुष्टा माया है, उसका स्वरूप संक्षेप में बताते हैं।

इस ठगनी माया से कौन अपरिचित है, जिसने सभी संसार के प्राणियों को ठग खाया है, अर्थात् कोई नहीं।

छल-कपट को माया कहते हैं। अर्थात् मन में कुछ और हो, वचनों से कुछ और कहना तथा काया से कुछ और ही करना, इसका नाम है मायाजाल या मायाचार। यह मायाचार दुर्गति का द्वार है, ससार मे फँसाने का जाल है, स्वभावगुण जलाने को आग है, इसलिये करना हमें माया का त्याग है।

इस माया के चक्कर मे फँसकर बड़े-बड़े राजा-महाराजाओ ने, महा-तपस्वी मुनिराजो ने, सिद्धान्तवेत्ता पण्डितो ने, धर्माचरण करने वाले श्रावको ने अपना सब कुछ खो दिया है। जिसके अन्दर माया को स्थान मिल जाता है, वह उसके प्रभाव से दूसरे को ठगने का विचार करता है परन्तु लोक मे भी देखा जाता है कि वह स्वतः ही ठगाया जाता है। राजा रावण ने महासती सीता के साथ छल किया, फलस्वरूप सभी कुटुम्बीजनो के ही नही अपने प्राण खो बैठा, तीन खण्डका राज्य छोडकर तीसरी बालुका पृथ्वीका राज्य अर्थात् वहांके भोगोको भोग रहा है। महाराजा सत्यन्धर के साथ काष्ठाङ्गर ने धोखा किया, उसके बदले समय आने पर जीवन्धर ने उसे समूल नष्ट कर दिया। सुखानन्द कुमारके साथ रानी ने छल किया, फलतः महल मे चिनवा दी गई। धवल सेठ ने श्रीपाल के साथ छल किया, तो पेट फट गया। यह महान् माया का फल है। माया तो इतनी कुटिल है कि थोडी-सी भी की जाय तब भी तिर्यंचगति के बन्ध का कारण है। देखो, एक महामुनिराज की श्रावको ने यह जानकर पूजा-भक्ति की कि इन मुनिराज ने चार माह के उपवास किये हैं। उन मुनिराज को यह ज्ञात हो चुका था कि यहाँ चार माह का उपवास किन्ही मुनिराज ने किया है, यह लोग मुझे वही समझकर भक्ति कर रहे हैं। अपनी भक्ति व प्रशंसा होती देख मौन रह गये, फलत. तप के बल से छठवे स्वर्ग जाकर, वहाँ से चयकर सम्मेद शिखर के महान् वनमें त्रिलोकमण्डल हाथी हुए। कितने उदाहरण दिये जाये, जिस किसी ने मायाजाल को स्पर्श किया है वह अपना सर्वस्व खो बैठा है। अतः छल, कपट, मायाजाल से हमें दूर ही रहना चाहिये।

मायाके भेद—माया भी चार प्रकार की है—बाँस की जड़ के समान, मेढे के सीग के समान, गोमूत्र के समान, खुरपा के समान। यह चार भेद माया-

चार के परिणामों की अपेक्षा से हैं। बांस की जड़ के समान जो माया है, वह तीव्र परिणामों को लिए हुए है, इसका फल अधोगति ही है। आगे के भेदों में क्रम से परिणामो की मन्दता है। इन सभी मायाचारों से हमें बचना है, परन्तु सबसे पहले हमें तीव्र माया का त्याग करना है।

माया सम नहीं लोकमें, दुःखका कारण कोय।
सन्मति माया से बचो, तो दुरगति ना होय ॥१०४॥

लोभ किसे कहते हैं—क्रोध, मान और माया के पश्चात् आता है नम्बर लोभ का। लोभ कषाय सभी कषायो में भयंकर कषाय है। अब इसका स्वरूप बताते हैं—लालच को लोभ कहते हैं, लालच अर्थात् लोभ के फन्दे मे फँसकर भोले प्राणी अपना धन-वैभव खा बैठते हैं, इतना ही नही, कभी-कभी तो इसके फन्दे में फँसकर अपनी जान तक दे दिया करते हैं। संसार में जितने घोर पाप होते हैं, वह लोभ के ही कारण होते हैं। यह सभी कुकर्मों का (अनर्थों का) राजा है। कवियो ने भी इसे पाप का बाप कहा है। लोक में देखा जाता है कि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीव लोभ मे फँसकर अपने प्राण खो बैठते हैं। देखो महाकाय हस्ती विषय भोगो की लालसा से बन्धन मे पड़ जाता है। मछली आटे के लोभ मे आकर अपना गला फँसा देती है, भौरा सुगन्धि के लोभ मे आकर कभी-कभी कमल में बन्द होकर अपनी जान से हाथ धो बैठता है, प्रकाश के लोभ मे आकर पतंगा भी जान दे बैठता है, राग-रागनी के प्रलोभन मे आकर महान् विषधर व हरिण बन्धन मे पड़ जाते हैं, जान खो बठते हैं। चुनकेके लोभ में आकर पक्षी जाल में फँस जाते हैं, जब वे पशु-पक्षी थोडे से प्रलोभन मे आकर बन्धन मे पड जाते हैं, प्राण दे बैठते हैं, तो हम तो पूर्णतया लोभ कषाय में ही रंगे हुए हैं, हमारी न जाने क्या दशा होगी। अगर संसार-चक्कर से बचना चाहते हैं, कर्मों की घुण्डी खोलना चाहते हैं, शान्तिस्वभाव को प्राप्तकर चलना चाहते हैं मुक्तिपथ की ओर, तो इस ससार के कारण महापिशाच लोभ का त्याग इसी क्षण कर दें।

लोभसे हानि—इस लोभ के चक्कर में आकर अनेको राजा-महाराजादि अपकीर्ति फैलाकर चले गये, अनेकों इसमें पड़कर प्राण दे गये बड़े-बड़े पण्डित भी इसमे फँसकर अछूते नही बचे। सुभौम चक्रवर्ती फलके लोभमे आकर णमोकार मन्त्र का महान् अविनय किया और फलतः नरक जाना पड़ा। मांस के लोभ में फँसे हुए राजा बक को अपमान कर जनता ने राज्य से बाहर निकाल दिया, लोक निन्दा हुई और मरकर भी घोर नरक में जाना पड़ा। शास्त्रों में ऐसे अनेक उदाहरण आते हैं, जिनमें लोभ के कारण कितने ही नरक में गये,

कितने ही तिर्यंचगति में उत्पन्न हुए, अनेकों ने अपना ईमान खोकर जगत् में अपयश फैलाया। आज भी देखा जा रहा है कि लोभ के वशीभूत होकर आदमी क्या-क्या अनर्थ नहीं कर रहा है। जिसको धन कमाने का लोभ लगा है वह लखपति होते हुए भी रात्रि में चैन के साथ सो नहीं सकता, वह तो इसी चिन्ता में रहता है कि किसी प्रकार धन आवे, चाहे वह न्याय से आये, चाहे अन्याय से। यह धन का लोभ एक ऐसा है जो अच्छे-अच्छे ज्ञानीजनों को अपने कब्जे में कर लेता है, अर्थात् स्वभाव से च्युत कराकर पथभ्रष्ट करा देता है, इसलिए लोभ को पाप का बाप कहा है। इसी पर एक कहानी लीजिये, जिसे सुनकर यह निर्णय हो जायेगा कि लोभ वास्तव में पाप का बाप है और इसी समय हमारी कषाय का त्याग भी हो जायेगा।

लोभ पर दृष्टान्त—श्री मन्दिरजी में एक महिला ने यह सुना कि 'लोभ पाप का बाप बखाना'। तभी से उसके मन में यह उत्कण्ठा जागृत हो उठी कि लोभ को पाप का बाप क्यों कहा है? अभी उसके पतिदेव घर नहीं हैं, पूछे भी तो किससे। कुछ ही समय के पश्चात् बनारस से पढ़ लिख कर अच्छे शास्त्रों के ज्ञाता बनकर उसके पतिदेव आये। लोभ पाप का बाप क्यों है? इस बात को समझने की इच्छुक उस महिला ने अपने पतिदेव से कहा—स्वामी जो आप मुझे तो समझाइये कि लोभ को पाप का बाप क्यों कहा है? पण्डित जी अवाक् रह गये, बहुत कुछ विचार करने पर भी समझ में नहीं आया, तो उसी समय काशी की ओर पुनः चल दिये यह मनमें निश्चय करके कि लोभ को पाप का बाप क्यों कहा है? इस बात का अध्ययन करेंगे, अपने गुरुजनों से समझेंगे।

गाँव से कुछ ही दूरी पर एक बगीचा मिला, जिसके गेट पर एक सजी-धजी नारी खड़ी हुई थी। पण्डित जी को देखकर उसने नमस्कार किया, और कहा कि आप कहाँ जा रहे हैं? पण्डित जी ने कहा कि मैं बनारस जा रहा हूँ यह समझने के लिये कि लोभ को पाप का बाप क्यों कहा है? उस नारी ने पण्डित जी से हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि अगर आज आप मेरे बंगले पर रुक जायें तो बड़ी महरबानी होगी, हो सका तो मैं आपको यह भी समझा दूंगी कि लोभ को पाप का बाप किसलिए कहा है? पण्डित जी ने कहा तू किस जाति की नारी है? उसने धीरे से कहा—वेश्या, ऐसा सुनकर वह एकदम चौंक पड़े। हाय तू वेश्या है? जल्दीसे वहाँ से भागनेका सोचा। वेश्याने हाथ जोड़कर पुनः प्रार्थना की कि आप मात्र कुछही समय मेरे बगीचेमे आराम कर लीजिये, समय गर्मी का है। पण्डितजी ने कहा—वेश्या के यहाँ रुकना क्या, बात करना भी महान् पाप बताया है। वेश्या ने पण्डितजी से यह कहा कि मैं आपको सौ रुपये की थैली भेंट करूँगी, आप मेरे घरको अपने चरणोंसे पवित्र कीजिये। पण्डितजी ने बहुत कुछ

विचार किया, परन्तु पैसे के प्रलोभन में पड़कर आगे-पीछे देखकर वेश्या के साथ चले गये, वहाँ एकान्त स्थान पर बैठ गये। वेश्याने कहा—महाराज आप भोजन बना लीजिये, समय हो गया है, सामान मेरा ले लीजिये। पण्डित जी बोले—क्या तू हमको भ्रष्ट करना चाहती है, जानती नहीं कि हम ब्राह्मण हैं, तेरे बगीचे में, वह भी तेरे सामान से हम रसोई बना सकते हैं, कभी नहीं ! तू महान् अशुद्ध, तेरा अन्न-जल भी महान् अशुद्ध और हम खायेंगे तो हम भी अशुद्ध हो जायेंगे। वेश्या ने यह कहते हुए कि अन्नादि में मैं प्रवेश थोडे ही कर गई हूँ, आपको मैं पांच सौ रुपये की थैली भेंट करूंगी, मात्र आप मेरे सामान से मेरे चौके में भोजन बना लीजिये, आप चिन्ता क्यों करते हैं। मैं अभी सभी मकान को धुलवाये देती हूँ। पांच सौ रुपयों के लोभ में आकर पण्डित जी बोले—देखो, किसी से कहना मत, वह बोली आप कैसी बात करते हैं। ज्यादा क्यों बढ़ाया जाय, पैसे का लोभ दिखाकर वेश्या ने ही भोजन बनाया और थाली भी लगा दी, फिर कहा—पण्डितजी महाराज आप एक ग्रास मेरे हाथ से अपने मुंह मे ले लीजिये। पण्डित जी बोले—मैं इस बात को जानता हूं कि वेश्या का स्पर्श नरकका कारण है, मैं तेरे हाथ से ग्रास कैसे ले सकता हूँ, कभी नहीं, क्या मुझे अपने ईमान को बेचना है ? वेश्या ने कहा—महाराज यहाँ कोई देखता नहीं है, मैं आपको एक हजार रुपये की थैली और भेंट करूंगी। पण्डित जी ने इधर उधर देखते हुए वेश्या से कहा कि देख, एक तो इस बात को किसी से कहना मत और ग्रास देते समय मेरे शरीर से तेरा हाथ न छू जावे, इस बात का पूरा ध्यान रखना। ग्रास लेने के लिए पण्डित जी ने अपना मुख उठाया उसी समय वेश्याने बेधड़क होकर एक ऐसा तमाचा गाल पर लगाया, जिससे कि उनकी आँखों में से पानी झर उठा, क्रोधित हो बोले यह क्या किया ? वेश्या ने कहा—माफ करना, यह बताया है कि लोभ पाप का बाप इसलिए है, आपने पैसे के लोभ में आकर ही यह सब स्वीकार किया है। कहाँ तो बगीचे में रुकने को तैयार नहीं थे, कहाँ हाथ से भोजन करने तक के लिए आतुर हो गये। पण्डित जी यह कहते हुए कि आ गया समझ में, वास्तव में लोभ पाप का बाप ही है। इस अहितकारक लोभ का उन्होंने उसी क्षण त्याग कर दिया और सबको उपदेश भी देने लगे कि हे स्वहित के इच्छुक भव्य प्राणियो, इस लोभ-पिशाच से सर्वथा दूर रहना। यह जिस किसी को लग जाता है उसी का अहित कर डालता है, पथ-भ्रष्ट कर देता है।

लोभ के भेद—उपर्युक्त तीन कषायोंकी तरहसे लोभ के भी चार भेद हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—कृमिरागके समान, गाड़ी आदिके पहियोंके ओगन के समान, शरीर के मल के समान और हल्दी के रङ्ग के समान। यह चारों ही

प्रकार का लोभ सर्वथा त्याज्य है। परन्तु सबसे पहले हमारे लिये त्याज्य है, कृमि रंग के समान, क्योंकि यह हमारा सर्वथा अहित करता है।

लोभ पापका मूल है, दुर्गतिमें ले जाय।
सन्मति बचना लोभसे, तो निजमें रमि जाय ॥१०५॥

किस कषायके कारण कहाँ जाते हैं—अभी स्वरूप समझा चारों कषायो का। अब यह बताया जा रहा है कि किस कषाय के उदय से यह जीव किस गति मे उत्पन्न होता है। सिद्धान्त से देखे, तो चारित्रमोहकर्म का उदय होने पर जीव के कषायरूप परिणाम होते हैं। परिणामो के तो असख्यात भेद हैं परन्तु यहाँ पर मूल चारको बताया जाता है—उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य, एक-एक कषाय के जो चार भेद बताये है वह इन्ही की अपेक्षा से हैं।

जब तीव्र कषाय-उत्कृष्ट कषाय उदय मे आती है, जिसके परिणाम क्रमश; पत्थर की रेखा, पत्थर के समान बाँस की जड और कृमि रग के समान बताये हैं। इन परिणामो मे क्रोध होने पर अनिष्ट को नष्ट करने के भाव होते हैं, मान होने पर अपने को ऊँचा और परको नीचा दिखाने के भाव होते हैं। मायामय परिणाम होने पर दूसरो को ठगकर इच्छित वस्तु की प्राप्ति के भाव होते हैं, और लोभमय परिणाम होने पर धनादि पदार्थों को एकत्रित करने के भाव होते हैं। यह सामान्य भाव नही हैं, इतने तीव्र है कि इनके होते हुए अगर मरण होता है तो नियम से नरक मे जाना पडता है, और वहाँ पर सागरो पर्यंत घोर दु:खो को भोगना पडता है। अनुत्कृष्ट कषाय के परिणाम उत्कृष्ट की अपेक्षा से मन्द हैं अत: इनमे मरण कर जीव नियम से तिर्यंचगति मे जाता है और वहाँ पर भी घोर कष्ट सहन करता है। यह परिणाम क्रमश: पृथ्वीरेखा के, हड्डी के, मेढे के सीग, गाडी के ओगन के समान है। जघन्य परिणामो का स्वरूप क्रमश: धूल की रेखा, काष्ठ, गोमूत्र और शरीर के मैल के समान है। इन परिणामो में मरण कर जीव नियम से मनुष्य होता है। जघन्य परिणामो का स्वरूप जलरेखा, बेंत, खुरपा और हल्दी के रग के समान है। यह परिणाम सबसे मन्द है। इसमें मरण कर जीव देवगति में उत्पन्न होता है। यह चारो प्रकार की कषाये त्याज्य हैं, क्योंकि इनका त्याग किये बिना हमको पूर्ण शान्ति नही मिल सकती। परन्तु इन सबका एक साथ त्याग नही कर सकते, अत: क्रम से अपनी शक्ति के अनुसार करे, परन्तु करे अवश्य, अगर चलना चाहते हैं मुक्तिपथ की ओर तो।

मुक्ति-पंथको रोकती, जगमे एक कषाय।
समतारसका पान कर, सहज मुक्तिमें जाय ॥

इस प्रकार संक्षेप में चारो कषायो का स्वरूप कहा। इन्हें समझकर इनसे

इसी क्षण अपना पीछा छुड़ा ले, तो जीत है अन्यथा हार ही है, अपना अहित ही है।

मिथ्यात्व

अभी हमने अपने ज्ञानादिगुणो को घातने वाली (प्रगट न होने देनेवाली) कषाय का स्वरूप और उनका फल समझा। अब बताया जा रहा है उस मिथ्यात्वका स्वरूप और फल संक्षेप से, जिसके कारण अनन्तानुबन्धी अपना पूर्ण अधिकार जमाये रहती है, अर्थात् अनन्तकाल तक ससार मे ही रुलाती रहती है। इस घोर मिथ्यात्व का स्वरूप हमे निश्चित ही समझना है क्योंकि इसे समझे बिना इससे अपने आपको बचाना सम्भव नही है। यह दुष्ट वस्त्र में रंग की तरह हमारे अन्दर प्रवेश किये रहता है, इसलिए बिना समझे इसका निकालना अर्थात् त्याग करना कठिन ही है।

मिथ्यात्व का त्याग क्यों ?

मिथ्यात्व का त्याग किये बिना वस्तुस्वभाव का यथार्थ ज्ञान नही होता, हिताहित मार्ग की परीक्षा नही होती, सुख-शान्ति नही मिलती, ससार, शरीर, भोगो से सच्ची विरक्ति नही होती, अत: मिथ्यात्व का त्याग करना सर्वप्रथम आवश्यक है। अगर इसका त्याग नही किया तो अणुव्रत, महाव्रत, शील, सयम घोर तपश्चरण भी हम चाहे जितने करते रहे, वे मुक्ति का कारण न बनकर संसार का ही कारण रहेगे, जैसे बिना पथ्य के कितनी भी औषधियो का सेवन क्यो न किया जाय वे रोग-नाशक नही होगी। मिथ्यात्व का अंश भी दुखदायी है, इसी पर एक छोटा-सा दृष्टान्त है उसे सुनकर हमारा मिथ्यात्व अवश्य ही निकल जायेगा।

दृष्टान्त—किसी एक अच्छे सेठजी के लड़के को श्वास-खाँसी का रोग हो गया। सेठजी बड़े दुखी थे, कारण लड़का अकेला था, अनेको डाक्टर वैद्यों के इलाज चल चुके, लाखो की तादाद में धन भी खर्च हो चुका, परन्तु लड़का रोगमुक्त न हुआ। रोगमुक्त न हुआ, इसका कारण था. कोई वैद्य आकर बोलता कि आपको तेल खटाई से परहेज रखना होगा अर्थात् त्याग करना होगा। लडके का कहना था कि मैं सब कुछ छोडने को तैयार हूँ, परन्तु एकमात्र दही नही छोडूंगा। वैद्य आयें और यह सुनकर चले जाये। एक दिन कोई अनुभवी वैद्य आये और उन्होने कहा कि आप दही नही छोड़िये, दही खाते रहिये, दही के अन्दर तीन गुण विशेष हैं। युवक रोगी वैद्यजी की बात पर बड़ा प्रसन्न हुआ और कहा मैं आपका ही इलाज कराऊँगा, और तो सब आते हैं और कहते हैं कि दही का त्याग करो। अच्छा आप यह बताइये कि दही

खाने में तीन गुण कौन हैं ? वैद्यजी ने कहा—श्वांस-खांसी का रोगी दही खाता रहे तो उसके घर में रात्रि को चोरी नही होती। दूसरा गुण है कि उसे कभी कुत्ता नही काटता और तीसरा गुण है वह बूढा नही होता। इन तीन गुणो को सुनकर वह मूर्ख फूला नही समाया। कहने लगा कि यह तो अच्छा हुआ, रात्रि को पहरेदारो की आवश्यकता नही रहेगी। कुत्ता का काटना भी बुरा है और बुढ़ापा भी नही आयेगा, इससे बढ़कर खुशी की बात है ही क्या। तीन दिन की औषधि देकर वैद्यजी अपने घर चले गये। इधर सेठजी के लड़के ने दही की खुराक डबल कर दी। रोग बढने लगा, यहाँ तक कि खाँसी के वेग मे खटिया से उठना भी अशक्य हो गया। पुनः वैद्यजी को बुलाकर कहा कि आप तो दही में तीन गुण बताते थे, यहाँ तो खाट से उठना कठिन हो रहा है। वैद्यजी बोले—मैंने जो तीन गुण बताये वह बिलकुल सही हैं। पहले गुण में बताया था कि आपके घर मे चोरी नही होगी, क्योकि आप दही खाते रहेगे, तो रात्रि भर खाँसते रहेगे, जब आप रात्रि भर खाँसते रहेगे तो चोर की आने की ताकत ही कहाँ। दूसरे गुण में बताया था कि कुत्ता नही काटेगा, वह भी मैंने ठीक ही कहा था, आपके पैरो में जब शक्ति नही रहेगी तब लाठी का सहारा लेकर चलना होगा, और जिसके हाथ मे लाठी रहती है, कुत्ता उसके समीप भी नहीं आता। तीसरे गुण में मैने यह बताया था कि आपको बुढापा नही आयेगा, वह भी ठीक ही कहा था। आपको खाँसी-श्वास का रोग है इतने पर भी आप दही खाते हैं तो अभी आपकी आयु २५ वर्ष की है, दो-चार वर्ष मे रामनाम सत्य होकर मृत्यु होगी, बुढापा तो साठ वर्ष के बाद प्रारम्भ होता है।

तीन गुणों को सुनते ही और यह जानकर कि दही खाते रहेंगे तो जान से हाथ धो बैठेंगे, उसी समय दही का त्याग कर दिया और परहेज पूर्वक औषधियो का सेवन किया तो कुछ ही समय मे वह रोगमुक्त हो गया।

इसी प्रकार हम भी रोगी हैं, जन्म-मरण का भयंकर रोग लगा हुआ है। इसका इलाज करते-करते अनादिकाल व्यतीत हो गया। परन्तु रोगमुक्त नही हुए। इसका कारण यही है कि परम उपकारक गुरुदेव ने जो औषधि बतायी उसका तो जब कभी सेवन किया, परन्तु साथ ही जो विषय, कषाय, मिथ्यात्वरूपी तेल-खटाई आदि का त्याग बताया, वह नही किया।

अब अगर हम जन्म-मरणरूपी रोग से मुक्त होना चाहते हैं तो इसी समय इस महादुःख के कारण घोर मिथ्यात्व का त्याग कर दें, इसका अगर अंश भी बैठा रहा तो हमे चाहरूपी आग में जलाकर भस्म कर देगा, जैसे आग का एक कण ही लाखों मन ईंधन को जलाकर भस्म कर देता है। अतः अभी इसी समय से हमें इस महान् दुःखके कारण मिथ्यात्व का त्याग करना आवश्यक है।

मिथ्यात्व के भेद—अभी तक मिथ्यात्व के त्याग की बात की, अब इसके कितने भेद हैं, यह दिखाते हैं। इसके मूल में दो भेद हैं, गृहीत और अगृहीत। तत्त्वार्थवार्तिकादि ग्रन्थों के अनुसार मिथ्यात्व के पाँच भेद भी हैं—१. एकान्त, २. विपरीत, ३. वैनयिक, ४. संशय और ५. अज्ञान। इन सभी प्रकार के मिथ्यात्वों का क्या स्वरूप है, यह दिखाते हैं।

गृहीत मिथ्यात्व—सर्वप्रथम यहाँ गृहीत मिथ्यात्व का स्वरूप बतलाते हैं। पर उपदेश से हुआ, जो तत्त्वका विपरीत श्रद्धान है, वही है गृहीत मिथ्यात्व, अर्थात् खोटे देव, शास्त्र और गुरुओं की पूजा, सेवा, भक्ति, स्तुति आदि करना, उनका उपदेश सुनकर उनकी बात का श्रद्धान करना, मानना तथा तदनुकूल आचरण करना और भी उनके अनुकूल जो कुछ भी मान्यता है, वह सभी गृहीत मिथ्यात्व है। गृहीत नाम इसका इसलिए है कि यहाँ पर उपदेश से ग्रहण किया जाता है। यह मिथ्यात्व मात्र पञ्चेन्द्रिय सैनी मनुष्यादि जीवों के ही होता है।

अगृहीत मिथ्यात्व—अगृहीत मिथ्यात्व उसे कहते हैं जो किसी के उपदेश के बिना ही अनादिकालसे अपना स्थान जमाये बैठा हुआ है, उसने वस्तु-स्वभाव का यथार्थ ज्ञान ही नही होने दिया है। एकेन्द्रिय से लेकर मनरहित पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त जीवों के अगृहीत मिथ्यात्व ही है, और शेष मनुष्यादि जीवों के दोनो ही मिथ्यात्व हो सकते हैं, अकेला अगृहीत भी हो सकता है, परन्तु अकेला गृहीत नही होता क्योंकि इसके उत्पन्न होने में अन्तरङ्ग कारण अगृहीत है।

एकान्त मिथ्यात्व—एकान्त मिथ्यात्व का स्वरूप इस प्रकार है—यह ऐसा ही है, किसी भी तरह से अन्यरूप नही है, वस्तुस्वभाव नित्य ही है, अनित्य ही है। भिन्न ही है, अभिन्न ही है। भेदरूप ही है, अभेदरूप ही है। अस्तिरूप ही मात्र है, नास्तिरूप ही है। दर्शनमात्र से ही मोक्ष मिल जायेगा। ज्ञानमात्र से ही सुख की प्राप्ति हो जायेगी। चारित्रमात्र से ही कर्म छूट जायेंगे। निश्चयमात्र ही धर्म है, व्यवहार अधर्म है। व्यवहारमात्र ही धर्म है निश्चय नहीं। इस प्रकार की अनेक कपोलकल्पित मान्ताएँ एकान्त मिथ्यात्व में ही समाविष्ट हैं। इस एकान्त मिथ्यात्व से बचने के लिए हमें अनेकान्त मूर्ति की शरण लेनी होगी।

विपरीत मिथ्यात्व—एकान्त मिथ्यात्वका स्वरूप इस प्रकार बताया। अब बताया जा रहा है विपरीत मिथ्यात्व का स्वरूप—वस्तुस्थिति जैसी है वैसी न मानकर उल्टी श्रद्धा करना, यही है विपरीत मिथ्यात्व। जैसे हिंसा में ही धर्म होता है; मुनि परिग्रहसहित ही होते हैं, पञ्चमकाल में सच्चे मुनियों का अभाव है, ऐसा कहना, पापक्रियाओं में रत रहते हुए उन्हे धर्म मानना, भोगों में

आनन्द मनाना, योगमार्ग को क्लेशदायक मानना, शरीर को ही आत्मा मानना, ससार में ही सुख मानना, और भी आगम से विपरीत मान्यताये हैं वे सभी विपरीत मिथ्यात्व के अन्दर अन्तर्भाव हो जाती हैं। इस मिथ्यात्व से बचने के लिए हमें अपनी बुद्धि आगमानुसार बना लेनी होगी।

संशय मिथ्यात्व—अब यहाँ समझना है हमे सशय मिथ्यात्वके स्वरूप को। किसी भी पदार्थ के विषय मे यह ऐसा है या ऐसा, इस तरह है या नही, इस प्रकार की मान्यता को ही सशय मिथ्यात्व कहते हैं, जैसे रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग या एक-एक भी। मुनि बनने मे ही सुख प्राप्त होता है या अन्य भेषो मे भी, वर्तमान मे भी साधु पाये जा सकते हैं या नही, कुतप से भी थोडा-बहुत तो धर्म होता ही होगा, धर्म को धारण करने पर सुख मिलेगा या नही, पञ्चपरमेष्ठी की शरण मे आने पर पापो का नाश होगा या नही इत्यादि अनेक प्रकार की बाते सशय अर्थात् उन सभी बातो का पूण निर्णय नही कर मनमे सन्देह बनाये रखना, यही कहा जाता है सशय मिथ्यात्व। इस मिथ्यात्व से बचने के लिए हमे वस्तुस्वभाव का यथार्थ निर्णय कर सशय का त्याग करना होगा।

वैनयिकमिथ्यात्व— अभी हमने सशय मिथ्यात्व के स्वरूप को समझ कर त्याग किया, अब है चर्चा वैयनिक मिथ्यात्व की। बिना किसी अपेक्षाके सभी धर्मों, सभी देवताओ और सभी आम्नाओ को समान मानकर उनकी विनय करना वैनयिक मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्व से बचने के लिए हमे देव, धर्म गुरु आदि सभी की सत्य, असत्य की परीक्षा करके ही विनय करनी होगी।

अज्ञान मिथ्यात्व—मिथ्यात्व के अन्तिम भेद अर्थात् अज्ञान-मिथ्यात्व का स्वरूप समझाया जाता है। हिताहित के विवेक का न होना ही अज्ञान-मिथ्यात्व है। जैसे धन को पाकर दान न देना, ज्ञान पाकर धर्म-प्रभावना न करना, निरोगी शरीर पाकर महाव्रत धारण कर तप के द्वारा कर्मों की निर्जरा के लिए पुरुषार्थ न करना, मनुष्ययोनि पाकर शरीर को भोगो मे ही सुखा देना, इत्यादि अज्ञानमिथ्यात्व ही है। अज्ञानमिथ्यात्वसे बचने के लिए हमे बुद्धिपूर्वक हितमार्ग पर चलना होगा।

मिथ्यात्व से बढ़कर अहितकारक कौन ?—तीनो लोको और तीनो कालो मे मिथ्यात्व से बढकर हमारा शत्रु कोई नही है। इसके रहते हुए अगर हमे परम गुरु उपदेश दे तो उस पर भी हमारी श्रद्धा नही जमती। वस्तु-स्वभाव की बात नही सुहाती, कल्याण का मार्ग कष्टदायक प्रतिभासित होता है। अनेको उपाय करने पर भी तत्त्व की जो अश्रद्धा है वह नही निकलती। अहंकार ममकार नही छूटता। दुःखसागर की ही गहराई मे उतरते जाते हैं। इसके

कारण सर्वथा अहित ही अहित हो रहा है। अमितगति श्रावकाचार अध्याय दो मे इस महामिथ्यात्व के सम्बन्ध मे इस प्रकार कहा है—

न मिथ्यात्वसमः शत्रुर्न मिथ्यात्वसमं विषम् ।
न मिथ्यात्वसमो रोगो न मिथ्यात्वसमं तमः ॥२८॥

मिथ्यात्व से बढ़कर हमारा कोई शत्रु नही, शत्रु तो एक बार चढाई करता है और यह बार-बार हर समय कमर कसे ही खडा रहता है। मिथ्यात्वसे बढकर कोई विष नही है, विष के खाने से तो एक बार ही मरण होता है, परन्तु इसका सेवन करने पर तो बार-बार मरना पडता है। मिथ्यात्व से बढकर कोई रोग नही। रोग से कष्ट एक ही भव मे पैदा होता है, परन्तु इसके कारण तो जन्म-जन्म में दुःख उठाने पडते हैं। मिथ्यात्वसे बढकर कोई तिमिर (अन्धकार) नही, अन्धकार मे तो कुछ ही समय को भटकना पडता है, परन्तु इस मिथ्यात्व रूपी अन्धकार के कारण तो अनादिकाल से ससार मे भटक रहे हैं, और सम्यक्त्वरूपी दीप नही लिया तो भटकते ही रहेगे। रत्नकरण्डश्रावकाचारमें कहा है-

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं, नान्यत्तनूभृताम् ॥३४॥

तीनो लोको और तीनो कालो मे सम्यक्त्व से बढकर अन्य कोई शर्थ उपकारी—कल्याणकारी नही है, तथा मिथ्यात्व से बढ़कर कोई अन्य अपकारी अर्थात् दुःखदायक नही है।

और भी बारीकी मे मिथ्यात्व के स्वरूप को आगम से समझकर सर्वथा त्याग ही कर देना है। त्याग क्यो करना है हमे, इसके त्यागे बिना सम्यक्त्व नहीं होता, और सम्यक्त्व हुए बिना ससार दुःख नही मिटता। ससार दुःख मिटे बिना सच्चा सुख नही मिलता, अत घोर मिथ्यात्व का इसी क्षण से त्याग करना आवश्यक है।

मिथ्यासम नहिं जगतमें, दुःखका कारण और ।
ज्ञान तत्त्व ले त्याग दे, निजमें करके गौर ॥१००॥

सम्यग्दर्शन

अभी तक हमने समझा अष्टमूलगुणो को, दर्शन आदि की विधि को, नरजन्म की सार्थकता को, आवश्यक षट् कर्मों को, चतुर्गति-भ्रमण-दुःखो को, उनमे भ्रमण करानेवाली कषायोको, और उन कषायोंके मूल कारण मिथ्यात्वको, अब बताया जा रहा है उस सम्यग्दर्शन को, जिसके होते हुए पूर्वोक्त सभी क्रियाएँ

संसार के छेद अर्थात् मुक्तिका कारण बन जाती है, और उसके अभाव में सभी क्रियाएँ संसार का ही कारण है।

सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त दुनियाँ मे हमारा कोई मित्र नही है, मित्र के माध्यम से तो ससारी कार्यों की ही सिद्धि देखी जाती है, परन्तु सम्यक्त्वरूपी मित्र के सहयोग से मुक्तिलक्ष्मी की प्राप्ति हो जाती है, सासारिक दरिद्रता मिट जाती है। अत: येन-केन प्रकारेण हमें सम्यक्त्वरूपी मित्र की खोज करनी है, उसे खोजकर हृदयरूपी कमलासन पर आसीन करना है, अपनी दृष्टि में बसाना है, जिनकी दृष्टि मे सम्यक्त्वरूपी मित्र बैठा है, उनके लिए संसार कोई शत्रु नहीं होता, वे सर्वत्र निर्भय हो विचरण करते हैं, सभी को अपना मित्र समझते हैं, हर समय चारो पुरुषार्थों मे लीन रहते हुए भी धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ की ओर पूर्ण ध्यान रखते हैं, ससार मे वे अवश्य रहते हैं परन्तु उनमे ससार नही रहता, अर्थात् जल मे नाववत् या कमलवत् रहते हैं जिसका कुछ विवेचन हम आगे करेंगे। पहले सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझ लेना है, ताकि उसे अपना सके, उसके अनुकूल अपने आचरण और विचार बना सके, अपने मे अपने आपको देख सकें, पर से दृष्टि को मोड़ सके, जग से ममता छोड़ सकें, मुक्ति से नेह जोड़ सके।

सम्यग्दर्शन की निरुक्ति—अब बताया जाता है कि सम्यक् शब्द कैसे बना है और उसका सही माने में क्या अर्थ है। सर्वार्थसिद्धि में इस प्रकार लिखा है—सम्यक् शब्द अव्युत्पन्न अर्थात् रौढिक और व्युत्पन्न अर्थात् व्याकरण सिद्ध है। जब यह व्याकरण से सिद्ध किया जाता है तब सम् उपसर्ग पूर्वक अञ्च् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर सम्यक् शब्द बनता है। संस्कृत मे इसकी व्युत्पत्ति समञ्चति इति सम्यक् इस प्रकार होती है। प्राकृत मे इसका अर्थ प्रशंसा है। पदार्थों के यथार्थ ज्ञान मूलक श्रद्धान का सग्रह करने के लिए दर्शन के पहले सम्यक् विशेषण दिया है। दर्शन शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—"पश्यति दृश्यतेऽनेन दृष्टिमात्र वा दर्शनम्"—जो देखता है, जिसके द्वारा देखा जाय, या देखना मात्र दर्शन है, अर्थात् पदार्थोंका यथार्थ रूपसे सही श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन के भेद—अपेक्षाकृत सम्यग्दर्शन कितने प्रकार का है, यही बताया जा रहा है। निसर्गज और अधिगमज के भेद से निश्चय और व्यवहार के भेद से, सराग और वीतरागके भेद से, दो-दो प्रकार का है। औपशमिक, क्षायिक और क्षयोपशमिक की अपेक्षासे सम्यग्दर्शन के तीन भेद हैं। प्रथमानुयोग, करुणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग की अपेक्षा से भी सम्यग्दर्शन का विवेचन किया जाता है। आत्मानुशासन आदि ग्रन्थोंमे ज्ञानप्रधान निमित्तादिककी अपेक्षा आज्ञासम्यक्त्व, मार्गसम्यक्त्व, उपदेशसम्यक्त्व, सूत्रसम्यक्त्व, बीजसम्यक्त्व,

संक्षेपसम्यक्त्व, विस्तारसम्यक्त्व, अर्थसम्यक्त्व, अवगाढ़सम्यक्त्व, और परमावगाढ़सम्यक्त्व, यह दश प्रकार से भी सम्यग्दर्शन बताया है। औपशमिक सम्यग्दर्शन के प्रथमोपशम, द्वितीयोपशमादि के भेद से अनेक प्रकार का है और आन्तरिक भावों की अपेक्षा निश्चय से एक प्रकार का ही है। शब्दो की अपेक्षा सख्यात्, श्रद्धान् करने वालों की अपेक्षा असंख्यात् और श्रद्धान् करने योग्य पदार्थों व अध्यवसावो की अपेक्षा अनन्त प्रकार का सम्यग्दर्शन होता है।

निसर्गज सम्यग्दर्शन—किसी के उपदेश के बिना ही जो सम्यग्दर्शन स्वत: होता है. उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं; अर्थात् वर्तमान मे देव, शास्त्र, और गुरुओ के उपदेश बिना पूर्व की स्मृति मात्र से जो सात प्रकृतियो के उपशम या क्षयोपशम से होता है उसे ही निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अधिगमज—पर-उपदेश पूर्वक होने वाले सम्यग्दर्शन को अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं, अर्थात् देव, शास्त्र, गुरुओं के निमित्त से, उपदेश से जो तत्त्वज्ञानपूर्वक सम्यग्दर्शन होता है उसे अधिमगज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

निश्चय सम्यग्दर्शन—जीवादि पदार्थोंके यथार्थ स्वरूप को जानकर, मेरा स्वरूप क्या है यह पहचानकर, परवस्तुओ से दृष्टि पूर्णतया मोड़कर मात्र अपने स्वरूप मे श्रद्धा ही नही पूर्ण रुचि, प्रतीतिका होना ही निश्चय सम्यग्दर्शन है।

व्यवहार सम्यग्दर्शन—जो निश्चय का साधन हो वह व्यवहार सम्यग्दर्शन है, अर्थात् सात तत्त्वो के यथार्थ श्रद्धान को, देव, शास्त्र और गुरु के यथार्थ श्रद्धान को, अनुकम्पादि गुण होने को व्यवहार सम्यग्दशन कहते हैं। इस व्यवहार सम्यग्दर्शन के बिना यथार्थ सम्यग्दर्शन नही होता।

सराग-वीतराग सम्यग्दर्शन—जिस सम्यग्दर्शनके सद्भावमें प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि गुण पाये जायें वह सराग सम्यक्त्व है। जिसमें मात्र आत्मा की विशुद्धि पायी जाय वह वीतराग सम्यग्दर्शन है। यह दो प्रकार का सम्यक्त्व राग सहित और राग रहित जीवो की अपेक्षा से है, सम्यक्त्व का स्वरूप तो जो है, वही है।

अनुयोगों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन-प्रथमानुयोग— सच्चे देव, शास्त्र, गुरुओ की श्रद्धा प्रथमानुयोग का सम्यग्दर्शन है। प्रथमानुयोग और चरणानुयोग दोनो आचरणकी बात करते हैं। **चरणानुयोग**— सर्वज्ञ, वीतरागी, हितोपदेशी देव के प्रति, देव द्वारा कथित चार ज्ञानके धारी गणधरो द्वारा धारण कर जगत् मे विस्तीर्ण की हुई और परम आचार्यों ने उसे प्राप्त कर जो शास्त्रो

की रचना की है, उनके प्रति और उन्ही शास्त्रों के अनुकूल चलने वाले गुरुओं के प्रति निश्चल श्रद्धा का होना, तथा श्रद्धापूर्वक सम्यक्त्व के अष्ट अंगों को पालन करना, अष्ट शंकादि, अष्ट मद, तीन मूढ़ता और छह अनायतनो का न होना इत्यादि चरणानुयोग का सम्यक्त्व है। अष्ट अग और पच्चीस दोषो का विवेचन आगे करेगे।

करणानुयोग—करण भावो को कहते हैं। मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले विकारी भाव अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ तथा मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर जो स्वाभाविक श्रद्धागुण की पर्याय उत्पन्न होती है वह करणानुयोग का सम्यक्त्व है। अन्य सम्यक्त्व होने पर यह सम्यक्त्व हो और न भी हो, परन्तु इसके होने पर अन्य सम्यक्त्व नियमित रूप से होते हैं। तीन प्रकृति चार कषायो और सामान्य मिथ्यात्व के स्वरूप, कारण, लक्षण और फल का विवेचन पीछे किया जा चुका है। यहाँ पर मिथ्यात्व, सम्यङ्-मिथ्यात्व और सम्यक्त्व-प्रकृति का पुन सक्षेप मे कथन किया जा रहा है।

मिथ्यात्वप्रकृति—उसे कहते हैं जिसका उदय होने पर जीवको वस्तु-स्वभाव का यथार्थ श्रद्धान नही होता। इस प्रकृति के असख्यात् भेद हैं। इसी के उदय मे जीव सातवें नरक का बन्ध करता है, और इसी के उदय मे नौवे ग्रेवेयक तक जाता है। इसी के उदय में कभी मुनि बन जाता है, तो कभी इसी के उदयमें मुनिपद छोडने के भाव होते हैं। इसी के उदय मे कभी निरतिचार महाव्रतों को पालने के भाव बनते हैं तो कभी इसी के उदय में घोर हिंसा भी करता है। इसका मन्द उदय होते हुए भी जीव की बाह्य परिणति सम्यग्दृष्टि जैसी हो सकती है, परन्तु परमार्थ से तो वह मिथ्यादृष्टि ही है।

सम्यङ्-मिथ्यात्वप्रकृति— जिसके उदय मे परिणाम कुछ सम्यक्त्व-रूप और कुछ मिथ्यात्वरूप अर्थात् मिले हुए दही-गुण के समान खटमिट्ठे होते हैं, वह सम्यङ् मिथ्यात्वप्रकृति कहलाती है।

सम्यक्प्रकृति—जिसके उदय में सम्यग्दर्शन में चल, मल और अगाढ दोष लगते हैं, अर्थात् वह जीव मानता है कि यह भगवान् मेरा इष्ट करने वाले हैं, शान्तिनाथ शान्ति के दाता हैं, इत्यादि यह सब सम्यक्त्वप्रकृति के उदय के कारण होता है।

द्रव्यानुयोग—द्रव्यानुयोग की अपेक्षा छः द्रव्य और उनके गुण-पर्यायों का जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वो का, पुण्य, पाप, सहित नव पदार्थों का जो यथार्थ स्वरूप है, उसकी उसी प्रकार श्रद्धा

करना सम्यग्दर्शन है अथवा परमार्थ से द्रव्यानुयोग में परपदार्थों से भिन्न अपने आपमें रुचि, प्रतीति अर्थात् तत्त्वश्रद्धानपूर्वक भेदज्ञान ही सम्यग्दर्शन है।

द्रव्य—जिसमें चेतना-ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, पाया जाये वह जीवद्रव्य है। जिसमे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाया जाये वह पुद्गलद्रव्य है। जो जीव और पुद्गल को चलने में सहायक हो वह धर्मद्रव्य है। जीव और पुद्गल को जो रोकने मे सहकारी कारण हो वह अधर्मद्रव्य है। समस्त द्रव्यों को जो स्थान दे वह आकाशद्रव्य है और जिसके कारण समस्त द्रव्यो के अन्दर परिणमन हो रहा है वह कालद्रव्य है। द्रव्यो के गुण तथा पर्यायों का स्वरूप आलापपद्धति आदि शास्त्रो से जानना।

तत्त्व—जो ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव से युक्त है वह जीवतत्त्व है और जो इससे विपरीत जिसमें ज्ञानदर्शनादि न पाये जाये वह अजीवतत्त्व है। मन, वचन काय से जो शुभ या अशुभ कर्मों का आना है वह आस्रवतत्त्व है। आये हुए कर्म-परमाणुओ का कषाय के निमित्त से जीव के प्रदेशो के साथ मिल जाना (बँधना) बन्धतत्त्व है। गुप्ति आदि के बल से कर्मों का आना रुक जाना सवरतत्त्व है। तपस्या के बल से कर्मों का छूटना-झरना प्रारम्भ हो जाना निर्जरातत्त्व है और स्वभाव में आने के कारण समस्त कर्मों का झड़ जाना मोक्षतत्त्व है। पुण्य, पाप दोनो ही आस्रवतत्त्व के अङ्ग हैं। इन सबका यथार्थ श्रद्धान कर परसे भिन्न स्व-चतुष्टय से युक्त आत्मतत्त्व का श्रद्धान करना द्रव्यानुयोग की अपेक्षा से सम्यग्-दर्शन है।

तत्त्वका श्रद्धान क्यों ?—इन सात तत्त्वो के यथार्थ श्रद्धान के बिना हेयोपादेय का ज्ञान नही हो सकता, हेयोपादेय अर्थात् कौन त्याज्य है, कौन ग्राह्य है ऐसा ज्ञान हुए बिना जीव और अजीव की सयोगी अवस्था ही ससार है और आस्रव तथा बन्ध उसके कारण हैं, ऐसी श्रद्धा नहीं बनेगी, बिना श्रद्धा के त्याग कैसा ? कर्मों से अपनी भिन्न सत्ता का ज्ञान हुए बिना मोक्ष का श्रद्धान होना कठिन है, मोक्ष का श्रद्धान हुए बिना उसके कारण सवर और निर्जरा का श्रद्धान नहीं होगा और इन सबका जैसे का तैसा ज्ञान हुए बिना सम्यग्दर्शन नही होगा, सम्यग्दर्शन के बिना सुख नही मिलेगा। अत. हमे वस्तुस्वभाव अर्थात् तत्त्व का यथार्थ निर्णय कर अडिग श्रद्धान करना है।

सम्यग्दर्शन की योग्यता—चतुर्गति के अन्दर परिभ्रमण करते हुए अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यजीव का संसारकाल अधिक से अधिक अर्धपुद्गल परा-वर्तन शेष रह गया हो, तब उसे प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की योग्यता होती है। इसे प्रथम काललब्धि कहते हैं। इस प्रथम काललब्धि के होने

पर यह जीव देव या नारकी पर्याय में हो अथवा पर्याप्तक सैनी, गर्भज, भव्य मनुष्य या तिर्यंच पर्याय के अन्दर हो, एवम् साकार ज्ञानोपयोग सहित हो, तथा क्षयोपशम लब्धि के प्रथम समय से लेकर प्रति समय बढ़ती हुई परिणामों की अनन्तगुणी विशुद्धता से पांचवीं करण लब्धि के उत्कृष्ट भागरूप अनिवृत्तिकरण परिणामों के अन्तिम समय में स्थित हो, मनुष्य, तिर्यंचगति वाला जीव प्रथम तीन लेश्याओं वाला हो और नारकी तथा देव पर्याय वालो के यथास्थान लेश्या हो और उस जीव के न तो उत्कृष्ट स्थिति वाले कर्मों का बन्ध हो और न जघन्य स्थिति वाले कर्मों का बन्ध हो अर्थात् अंत:कोटाकोटि सागरोपम स्थिति वाले नवीन कर्मों का बन्ध करे, पहले बन्धे हुए कर्मों की स्थिति को परिणामो की निर्मलता से सख्येय हजार सागरोपम कम अत कोटाकोटि सागर परिमाण रख ले यह कर्मस्थिति नाम की दूसरी काललब्धि है।

लब्धियाँ—किसी भी गतिका जीव जब सम्यक्त्व धारण करनेके योग्य बनता है तब नियम से इन पांच लब्धियों को प्राप्त होता है। लब्धि का अर्थ है प्राप्ति, अर्थात् सम्यक्त्व ग्रहण करने के योग्य सामग्री की प्राप्ति को लब्धि कहते हैं। लब्धियों के नाम इस प्रकार हैं—क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण। इन पांच लब्धियों मे से प्रारम्भ की चार लब्धियां तो सामान्य हैं, ये भव्य और अभव्य दोनो के होती हैं, परन्तु करण लब्धि सम्यक्त्व के सन्मुख भव्यजीवो के ही होगी। इन पांच लब्धियो का स्वरूप इस प्रकार है—

क्षायोपशमिकलब्धि—पूर्व-सचित अशुभ कर्मपटल के अनुभागस्पर्धकों का विशुद्धिके द्वारा प्रति समय अनन्तगुणितहीन होते हुए झरना अर्थात् उदीरणा को प्राप्त होना क्षायोपशमिक लब्धि है। इस लब्धि के द्वारा जीव के परिणाम उत्तरोत्तर निर्मल होते जाते हैं।

विशुद्धिलब्धि—निर्मलता विशेष को या साता वेदनीय आदि प्रशस्त प्रकृतियो के बन्ध मे कारणभूत परिणामों की प्राप्ति को विशुद्धिलब्धि कहते हैं।

देशनालब्धि—आचार्य आदि के द्वारा दिये हुए छः द्रव्य, नवपदार्थ आदि के उपदेश सुनकर जो धारण करने की योग्यता है उसे ही देसनालब्धि कहते हैं।

प्रायोग्यलब्धि—पञ्चेन्द्रयादिस्वरूप योग्यता के मिलने को या आयु-कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की स्थिति को अन्त:कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण कर देना और अशुभ कर्मों में से घातिया कर्मों के अनुभाग को लता और दारू इन दो स्थानगत तथा अघातिया कर्मों के अनुभाग को नीम और कांजी इन दो स्थानगत कर देना प्रायोग्यलब्धि है।

करणलब्धि—करण भावों को कहते हैं। सम्यग्दर्शन प्राप्त करानेवाले भावों की प्राप्ति को करणलब्धि कहते हैं। इनके तीन भेद हैं—अधःकरण, अपूर्वकरण, और अनिवृत्तिकरण। जिसमें आगामी समय में रहने वाले जीवों के परिणाम पिछले समयवर्ती जीवों के परिणामोसे मिलते-जुलते हों, इसमें समसमय-वर्ती जीवो के परिणाम समान व असमान दोनों प्रकारके होते हैं। परिणामो की समानता और असमानता नाना जीवों की अपेक्षा घटित होती है। इस करन का काल अन्तर्मुहूर्त से छोटा है। इस अन्तर्मुहूर्त प्रमाणकाल में भी उत्तरोत्तर वृद्धि को लिये हुए असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं। उसे अधःकरण कहते हैं। जिसमे प्रत्येक समय अपूर्व-अपूर्व नये-नये परिणाम होते हैं उसे अपूर्वकरण कहते हैं। अपूर्वकरण में समसमयवर्ती जीवो क परिणाम समान और असमान दोनों प्रकार के होते हैं, किन्तु भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम समान भी हो सकते हैं और असमान भी। यह कथन भी नाना जीवों की अपेक्षा है। इस करन का काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है किन्तु यह अन्तर्मुहूर्त अधःप्रवृतकरन के अन्तर्मुहूर्त से छोटा है। इस अन्तर्मुहूर्त प्रमाणकाल में भी उत्तरोत्तर वृद्धि को लिये हुये असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं। जिसमें एक समय में एक ही परिणाम होता है उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं।

इन कारणो के कुछ आवश्यक भी होते हैं। यहाँ पर पुस्तक बढ़नेके भय से इनका विवेचन नही किया जा रहा है, जीवकाण्ड, लब्धिसार आदि ग्रन्थों से पूर्ण जान लेना चाहिये।

उपशम सम्यक्त्व—उपशमशब्द का अर्थ होता है, दब जाना, जिस प्रकार मैले पानी के अन्दर कतक आदि डालने पर उसका कीचड़ नीचे दब जाता है और पानी बिलकुल स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार भेदज्ञानरूपी निर्मली के बीज आत्मारूपी पानी मे डालने पर पांच प्रकृतिरूपी कीचड़ अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ तथा मिथ्यात्व दब जाता है, इसे ही उपशम सम्यग्दर्शन कहते हैं। इन पाँच प्रकृतियो का उपशम हो जाने पर सत्ता मे रहते हुए भी आत्मपरिणामो के अन्दर अन्तर्मुहूर्त तक कुछ भी मलिनता उत्पन्न नही होती अर्थात् परिणाम विशुद्ध ही रहते हैं।

उपशम सम्यक्त्व के दो भेद हैं—१. प्रथमोपशम सम्यक्त्व, २. द्वितीयो-पशम सम्यक्त्व। प्रथमोपशम सम्यक्त्व सादि मिथ्यादृष्टि के भी होता है और अनादि के भी। अनादि मिथ्यादृष्टि वह जीव कहलाता है जिसे आज तक सम्य-क्त्व की प्राप्ति नही हुई। इस अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन पांच प्रकृतियों का उदय रहता

है। इसलिए वह उपयुक्त काललब्धि आदि निमित्तों के प्राप्त होने पर पाँच प्रकृतियों का ही उपशम करके प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

सम्यक्त्व के प्रभाव से अनादि मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वप्रकृति के तीन खण्ड कर देता है—मिथ्यात्व, सम्यड् मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति। ये दर्शनमोहनी की तीनो और चारो अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ मिलकर सात प्रकृतियाँ कही जाती हैं। सभी उपशम सम्यक्त्वो की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त मात्र है। इसके पश्चात् नियम से जीव मिथ्यादृष्टि बन जाता है। इसलिए जो सम्यक्त्व के काल मे उक्त तीनो प्रकृतियो की उद्वेलना से तीनो को ही मिथ्यात्वरूप कर डालता है, उद्वेलना करने वाले जीव के पाँच प्रकृतियाँ ही सत्ता में रहती हैं, जो उद्वेलना नही करता उसके सात प्रकृतियाँ सत्ता में बनी रहती हैं। योग्य निमित्त मिलने पर कभी यह जीव पुन. सम्यक्त्वकी प्राप्ति करे तो सात वाला सात का और पाँच वाला पाँच प्रकृतियो का उपशम करके उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। जब तक यह क्रम चलता रहता है और यही जीव उपशम श्रेणी न माडे, तब तक प्रथमोपशम सम्यक्त्वी कहलाता है। इस उपशम सम्यक्त्वको एक जीव असख्यात बार प्राप्त कर सकता है और छोड़ सकता है।

द्वितीयोपशम सम्यक्त्व क्षायोपशम सम्यक्त्व के बाद श्रेणी चढ़ते समय सातवें गुणस्थान के सातिशय भेद मे होता है। इसका धारक सातवें गुणस्थान से ग्यारहवे गुणस्थान तक जाता है। वहाँ से नियम से गिरके नीचे आता है। इसका विशेष कथन अन्य ग्रन्थो से जान लेना चाहिए।

क्षायिक सम्यक्त्व—मिथ्यात्व, सम्यड् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन सात प्रकृतियो का क्षय होना ही क्षायिक सम्यक्त्व है। दर्शनमोहनीय की क्षपणा अर्थात् क्षय का आरम्भ कर्मभूमिज मनुष्य ही करता है, और वह भी केवली या श्रुतकेवली के पादमूल मे। क्षपणा का क्रम इस प्रकार है—उपर्युक्त सात प्रकृतियो मे से अनन्तानुबन्धी की चौकडी और मिथ्यात्व तथा सम्यड् मिथ्यात्व का जिसके क्षय हो गया है सिर्फ सम्यक्त्व प्रकृति का उदय शेष रह गया है वह कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि कहलाता है। असयतादि चार गुणस्थान वाले अनन्तानुबन्धी आदि सात प्रकृतियोका क्रम से क्षय कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते हैं। उन सातो मे से पहले अनन्तानुबन्धी चार का अनिवृत्तिकरणरूप परिणामो के अन्तर्मुहूत काल के अन्त समय मे एक ही बार विसयोजन अर्थात् अनन्तानुबन्धी चौकड़ी को अप्रत्याख्यानादि बारह कषायरूप परिणमन करा देता है तथा अनुवृत्तिकरण काल के बहुभाग को छोड़कर शेष सख्यातवे एक भाग मे पहले समय से लेकर क्रम से

मिथ्यात्व, मिश्र तथा सम्यक्त्व प्रकृति का क्षय करता है, यदि कदाचित् पूर्ण क्षय होने से प्रथम ही मरण को प्राप्त हो जाय तो उस क्षपणा की समाप्ति चारों गतियोमे से किसी भी गति मे हो सकती है। अन्य सम्यक्त्व होकर छूट जाते हैं, परन्तु यह होने के बाद कभी नहीं छूटता। संसार स्थिति की अपेक्षासे इसका समय ८ वर्ष अनन्तर्मुहूर्त कम दो कोटि पूर्व अधिक तेतीस सागर प्रमाण है। क्षायिक सम्यक्त्व का धारी जीव नियम से उसी भवमे या अधिक से अधिक चौथे भवमे मोक्ष जाता है। इस सम्यग्दर्शन का धारी इतना पवित्र होता है कि कितने ही भय आदि से इसे डिगाने की कोशिश क्यो न की जाय, परन्तु तिल मात्र भी विचलित नही होता। यह सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान तक ही प्राप्त होता है। इसकी महिमा अपार है, उसका कौन विवेचन करने के लिए समर्थ है सिवाय केवली भगवान् और गणधरो के।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—सम्यक्त्व की घातक जो प्रकृतियां है उनमें से मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ यह छह प्रकृतियां तो सर्वघाती हैं और एक सम्यक्त्व प्रकृति देशघाती है। वर्तमान सर्वघाती स्पर्द्धको का अर्थात् कार्माण पुद्गलों का तो उदय मे न आने रूप क्षय अर्थात् बिना फल दिये ही खिर जाना और आगामी काल मे उदय आने योग्य स्पर्द्धको का सत्ता रूप उपशम अर्थात् जहां के तहां ठहर जाना तथा देशघाती सम्यक् प्रकृतिका उदय होना, इन तीन बातो के होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। इस सम्यक्त्व का दूसरा नाम वेदक भी है। इसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूत और उत्कृष्ट छयासठ सागर की है। उसका क्रम सर्वार्थसिद्धि मे इस प्रकार दिया है—खुद्दाबन्धमें क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का उत्कृष्ट काल छयासठ सागर इस प्रकार घटित करके बतलाया है—एक जीव उपशम सम्यक्त्व से वेदक सम्यक्त्व को प्राप्त होकर शेष भुज्यमान आयु से कम बीस सागर की आयु वाले देवो में उत्पन्न हुआ। फिर मनुष्यो मे उत्पन्न होकर पुनः मनुष्यायु से कम बाईस सागर की आयु वाले देवो मे उत्पन्न हुआ। फिर मनुष्य गति में जाकर भुज्यमान मनुष्यायु से तथा दर्शनमोह की क्षपणा पर्यन्त आगे भोगी जाने वाली मनुष्यायु से कम चौबीस सागर की आयु वाले देवो में उत्पन्न हुआ। वहांसे फिर मनुष्य गति मे आकर वहां वेदक सम्यक्त्व के काल में अन्तर्मुहूर्त रह जाने पर दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारम्भ करके कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि हो गया। यह जीव जब कृतकृत्य वेदक के अन्तिम समय में स्थित होता है तब क्षायोपशम सम्यग्दर्शन का उत्कृष्ट काल छयासठ सागर प्राप्त होता है। सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने के कारण इस सम्यक्त्व के अन्दर चल, मल और अगाढ़ दोष उत्पन्न होते हैं। इन

तीन दोषों को पहले बता आये हैं। सम्यक्त्व की महिमा आगे बतायेंगे। अब उसके दश भेदों को बताया जा रहा है।

दश भेद—जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा की प्रधानता से जो समीप या दूरवर्ती सूक्ष्म या स्थूल पदार्थों का श्रद्धान होना, वह आज्ञासम्यक्त्व है। जो निर्ग्रन्थ मार्ग के अवलोकन से सम्यग्दर्शन होता है उसे मार्गसम्यक्त्व कहते हैं। देव, शास्त्र और गुरुओं के उपदेश से होने वाले सम्यक्त्व को उपदेशसम्यग्दर्शन कहते हैं। मुनि के आचार का वर्णन करने वाले आचारसूत्रको सुनकर जो तत्त्व-श्रद्धान होता है उसे सूत्रसम्यक्त्व कहते हैं। गणितज्ञान के कारण बीजो के समूह से जो सम्यक्त्व होता है उसे बीजसम्यक्त्व कहते हैं। सक्षेपरूप से पदार्थों का विवेचन सुनने से जो सम्यक्त्व हो उसे सक्षेपसम्यक्त्व कहते हैं। जिनवाणी को विस्तार से सुनकर जो श्रद्धा उत्पन्न होती है उसे विस्तारसम्यक्त्व कहते हैं। शास्त्रों के श्रवण बिना किसी अन्य पदार्थों के निमित्त से जो वस्तु स्वभाव की श्रद्धा होती है उसे अर्थसम्यक्त्व कहते हैं। श्रुतकेवली के तत्त्वश्रद्धानको अवगाढ़ सम्यक्त्व कहते हैंऔर केवली के तत्त्वश्रद्धान को परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहते हैं। इन दश भेदों मे आरम्भ के आठ भेद कारण की अपेक्षा और अन्त के दो भेद ज्ञान के सहकारीपने की अपेक्षा किये गये हैं। सम्यक्त्व के इस प्रकार मार्ग-णादि की अपेक्षा से और भी असंख्यात भेद हैं।

अङ्ग—अब बताया जा रहा है उन अष्ट अङ्गोंको, जिनके द्वारा सम्य-क्त्व की पूर्णता होती है, वह प्रशंसनीय बन जाता है, जन्म-मृत्यु के भय से बचा लेता है। जो अङ्गी की पूर्णता कर दें उन्हे अङ्ग कहते हैं, या जिनके माध्यम से अङ्गी अपना कार्य पूर्ण करें उन्हें अङ्ग कहते हैं। जिस प्रकार हाथ, पैर आदि अङ्गो के मिलने पर मनुष्य शरीर की पूर्णता होती है, उसी प्रकार निश्शंकित आदि अष्ट अङ्गों की पूर्णता होने पर ही सम्यग्दर्शन पूर्ण हो जाता है। आगे इन अष्ट अङ्गो का विवेचन किया जा रहा है।

निश्शंकित अङ्ग—जिनेन्द्र भगवान् की वाणी में किसी प्रकार की शंका का न होना ही निःशंकित अङ्ग है ? अर्थात् कर्मबन्ध के कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय इनको निस्संदेह काटना, दूर करने का उपाय करना यही निःशंकित अङ्ग है।

निःशंकित हुए बिना हमारा जीवन निष्फल है। संदेह युक्त मनुष्य लौकिक कार्यों में सफलता प्राप्त नहीं करता, फिर आत्मशुद्धि के कार्यों मे तो सफलता प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं।

अञ्जन—देखो जिनदत्त सेठ और अंजन चोर को। णमोकार मन्त्रको सिद्ध करने के लिए सेठ जिनदत्त जंगलमे जाकर वृक्षके नीचे भाला आदि नुकीले यन्त्र (जिन पर गिरते ही जीवन समाप्त हो जाय) जमीन पर गाड़कर, उनके ऊपर वृक्ष की डाली पर एक छींका बाँधा। सेठजी बार-बार वृक्ष पर चढ़ते हैं और ऐसी शका करके उतर आते हैं कि कही छींका कटने पर मुझे णमोकार मन्त्र सिद्ध नही हुआ तो इन तीक्ष्ण नुकीले भालो पर गिरकर जान खो बैठूंगा। इतने मे ही वहाँ एक आदमी आया, जिसके पीछे उसे पकड़ने के लिए सैकड़ों पुलिस वाले भागे चले आ रहे थे। उसने सेठजीसे पूछा कि आप यह क्या तमाशा जैसा कर रहे हो ? सेठजी बोले भाई यह तमाशा नही है, मेरे पास एक मन्त्र है, उसे इस छीके पर बैठकर एक सौ आठ बार जपना है और साथ-साथ ही छीके की एक-एक रस्सी को काटते चलना है। जब यह काम पूरा हो जायेगा तब आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हो जायेगी ? परन्तु मुझे इस बात की शंका है कि विद्या सिद्ध न हुई तो इन तीक्ष्ण भालों पर गिर कर जान से हाथ न धो बैठूं। उस आदमी ने कहा यह मन्त्र आपके पास कहाँ से आया है ? सेठजी ने कहा कि यह जैन धर्मका अनादि मूल मन्त्र है। जो इसकी शरण लेता है वह समस्त दुखों से छूट जाता है। उस भागकर आये हुए पुरुष ने कहा कि हूँ तो मैं चोर, परन्तु जैन धर्म पर मेरी अटल श्रद्धा है, आप मुझे इस महामन्त्र को दीजिये। उसने णमोकार मन्त्र को सीखकर उसकी विधि जानी और निश्शक होकर वृक्ष पर चढ़ गया।

आते हुए राज्य कर्मचारियों के भयसे सेठजी तो जान बचाकर घर भाग गये। छीके के अन्दर बैठा हुआ वह अञ्जन चोर भूल गया उस महामन्त्र को, मात्र यह बोलते हुए उसने छीके की रस्सी काटना प्रारम्भ कर दी कि "आणन् ताण कछु न जाणं, सेठवचनपरमाणम्।" कुछ ही समय के अन्दर छीके की सभी रस्सी कट गयी और भालों पर गिरते हुए उस भावुक को विद्या ने अधर मे ही साध लिया। विद्या सिद्ध होते ही उसके भावों मे परिवर्तन आया और उसी सेठ के पास जाकर जैनधर्म का मर्म पूछा, सेठ उसे अपने दिगम्बर गुरु के समीप ले गया। वहाँ धर्म अर्थात् वस्तुस्वभाव का गुरुमुख से उपदेश सुनते ही भावों के अन्दर वह परिवर्तन आया कि उसी समय समस्त व्यसनो का ही नही सम्पूर्ण परिग्रह का भी त्यागकर अञ्जन से निरञ्जन बन गया, स्वादु से साधु बन गया, पापात्मा से धर्मात्मा बन गया, दोनो प्रकार के सङ्ग को त्याग उत्तम 'अन्तर आत्मा बन गया। अगर अंजन चोर नि.शंकित न होता तो अपने प्राण खो बैठता

अतः हमे भी नि शकित अङ्ग को धारण कर चारों पुरुषार्थोंकी साधना करनी है, अन्यथा सेठ जिनदत्त की भांति कोरे रह जायेगे।

निःकाड्.क्षित अङ्ग—समस्त शुभाशुभ कर्मों के फल मे तथा समस्त धर्मों मे किसो प्रकार की इच्छा का न होना, अर्थात् कांच-कंचनमें, निन्दा-प्रशसा में लाभ-अलाभ मे, विपरीत एकान्तवादी धर्मों में आन्तरिक इच्छा का न होना, तथा धर्म को धारण कर ससारी भोगो की या परभव के सुखो की वाञ्छा का न होना यही है नि.काड्क्षित अङ्ग।

अनेक प्रकार के कष्टो का सामना करने पर भी हमे धर्म छोड़ने की इच्छा नही करनी है, और न धर्म के फलस्वरूप इस लोक और परलोक सम्बन्धी सुखो की वाञ्छा करनी है तभी रहेगा हमारा सम्यग्दर्शन स्थिर, तभी छूटेगे भवदु खो से।

अनन्तमती—देखो महासती अनन्तमती राजकुमारी को, जिसने अपने पिता के साथ मुनिराज से बाल्य अवस्था के अन्दर ब्रह्मचर्य व्रत लिया था। पिता इस भूल मे थे कि मैंने आठ दिन का व्रत लिया है उसी प्रकार इसने भी कुछ समय के लिए सीमित ही लिया होगा। विवाह की अनेक तैयारियो को देख अनन्तमती ने कहा, पिताजी किसका विवाह करना चाहते हैं, मेरे तो ब्रह्मचर्य व्रत है। अनेक बार समझाने पर भी उसने किसी की न मानी, यह स्पष्ट जवाब दे दिया कि धर्म से च्युत होकर सासारिक सुखों की आशिक इच्छा भी मेरे मनके अन्दर नही है।

उसी अनन्तमती को बगीचे मे से कोई विद्याधर हरण करके ले गया, वह भी उसे धर्म से न डिगा सका, उसने भी किसी वेश्या को बेच दिया, परन्तु वहां पर भी उसकी रक्षा देवो ने आकर की और भी इसी प्रकार की अनेक घटनायें उसके साथ घटी, परन्तु वह अपने अखण्ड व्रतराज ब्रह्मचर्यव्रत से न डिगी। शुभकर्म का उदय आने पर एक आर्यिकाजी का संघ मिल गया। लडकी के शोक मे डूबा हुआ उसका पिता अपनी ससुराल आया, दरवाजे पर चौक पुरा देखा, उसी समय आंखो मे से पानी की धारा छूट पड़ी। पूछने पर अनन्तमती के समाचार कह सुनाये। माताजी के पास जाकर अनन्तमती को प्राप्त कर राजा को इतना हर्ष हुआ जो अकथनीय है। अनन्तमती से कहा—घर चलो, उसने साफ इन्कार कर दिया कि महलो के सुखोकी इच्छा अब मेरे अन्दर नही है। इच्छाओं का निरोध कर आर्यिका के व्रत धारण किए और सोलहवें स्वर्ग की विभूति को प्राप्त किया।

हमें इसी समय भवसुखो की वाञ्छा को छोड़ देना है तभी बनेंगे सम्यग्-दृष्टि, तभी होगी इष्ट की प्राप्ति, बस हमे अनन्तमतीजी के जीवन से यही एक शिक्षा लेनी है।

निर्विचिकित्सा अङ्ग—सासारिक किसी भी मलिन पदार्थको देखकर मनमें ग्लानि न होना, यही है निर्विचिकित्सा अङ्ग अर्थात् महामुनिराजो के शरीर को देखकर, त्यागी-व्रतियो की क्षीण अवस्था को देखकर, किसी रोगी को उल्टी होते या दस्त होते देखकर, किसी गरीब के तन पर फटे कपड़े या और भी अनेक कारणो को देखकर मनमे ग्लानि के भाव स्वाभाविक जाग्रत न हों, बस यही है सम्यग्दर्शन का तृतीय अङ्ग निर्विचिकित्सा।

उद्दायन राजा—यह सम्यक्त्व का गुण महान् सुखो का दाता है, देखो महाराज उद्दायन को, जिसकी कि स्वर्ग के अन्दर देवों तक में चर्चा-प्रशसा हो रही थी कि ग्लानि पर विजय प्राप्त की है तो उद्दायन राजा ने। एक देव उनकी परोक्षा के लिए मुनिराजका भेष बनाकर आ गया, उन दोनो ने भक्तिपूर्वक पड़गाहन किया और नवधाभक्ति सहित आहार देना प्रारम्भ कर दिया। उस बनावटी मुनि ने चौके के अन्दर ही उल्टी करना प्रारम्भ कर दिया। यहाँ तक उल्टी की कि उनके कपड़े भी खराब कर दिये परन्तु उन दोनोके मनमें लेशमात्र भी ग्लानि उत्पन्न नही हुई। अपने भाग्य को धिक्कारने लगे कि आज किस अशुभ कर्म का उदय है, जिससे कि मुनिराज को उल्टी हो गई। पूरी परीक्षा कर लेने के बाद देव ने अपना असली स्वरूप प्रकट किया और अनेक प्रकार के वस्त्राभूषणों से उन्हे सुशोभित कर उनके गुण गाता हुआ स्वर्गपुरी को चला गया। किसी भी मलिन वस्तु को, मुनियों के मलिन शरीर या मुख को देखकर या और भी अपने घर में माता-पिता, बाजार मे पड़े हुए रोगियो को देखकर जो ग्लानि जाग्रत होती है, हमे उसका अभी इसी क्षण से त्याग करना है अर्थात् सम्यक्त्व के तृतीय गुण से विभूषित होना है।

अमूढदृष्टि अङ्ग—न मूढ़-अमूढ़, अपने स्वभाव से न डिगना अमूढ़-पना है, अर्थात् देव-कुदेव, धर्म-अधर्म, गुरु-कुगुरु, शास्त्र-कुशास्त्र, आदि मे भेद करके सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का, द्रव्य, पदार्थ और तत्त्व का तथा वस्तुस्वभाव का यथार्थ श्रद्धान होना, यही होगा अमूढदृष्टि अङ्ग। इस गुण या अङ्ग के बिना सम्यक्त्व की स्थिति ही नही रहती, जिन्होने इस अङ्ग को अपनाया है वह सभी लोक में नाम कमाकर मुक्तिपथकी ओर चले गये।

रेवती रानी—देखो महासती महारानी रेवती को, जो आगमविरुद्ध बनावटी देव व धर्म के चक्कर मे न फँसी। जाते हुए क्षुल्लक जी ने मुनिराज से कहा कि उज्जैन के लिए कुछ कहना है? भव्यसेन मुनि के लिए नमोऽस्तु और रानी रेवती के लिए धर्मवृद्धि कहना। क्षुल्लक जी ने चलते हुए मन मे विचार किया कि इसका कारण क्या है? वहाँ पर तो दो मुनिराज और अनेक श्रावक-श्राविकायें हैं, चलकर परीक्षा करनी चाहिये। अभव्यसेन मुनि के कमण्डलु का पानी सुखाकर परीक्षा की तो वे परीक्षा के अन्दर फेल हो गये, उन्होने शुद्धि के लिए तालाब के अन्दर से पानी ले लिया। रेवती रानी की अनेक प्रकार परीक्षा ली, परन्तु वह मूढ न बनी। कभी ब्रह्मा का रूप बनाया, तो कभी भगवान् का समवसरण बनाया, जिसमें सिवाय भव्यसेन मुनिराज और रेवती रानी के समस्त नगर निवासी एकत्रित हुए। दूसरे दिन अपने सही रूप मे आकर आहार के लिए निकले तो रानी ने विधिपूर्वक पडगाहनकर भक्ति के साथ आहार दिया। क्षुल्लक जी ने रानी रेवती से और भव्यसेन मुनिराज से, भेजा हुआ नमोस्तु और आशीर्वाद कह दिया। इसी प्रकार हमको भी ससार मे अनेक प्रकार से चलते हुए धर्म के नाम पर एकान्तवाद या ढोग, उनमे फँसकर मूढ नहीं बनना है।

उपगूहन अङ्ग—उपगूहन अङ्ग का दूसरा नाम उपबृंहण, उपगूहनका अर्थ है छिपाना और उपबृंहण का अर्थ है बढाना। सिद्ध भगवान् के गुणो के अन्दर लीन होकर अन्य कार्यों को गौण करना, स्व-आत्मगुणो के अन्दर लीन होकर अपनी शक्ति को प्रकट करना और जिन कारणो से सत्य सनातन धर्म पर किसी प्रकार का आक्षेप होता हो, धर्म का हास्य या निन्दा होती हो, जिन अवगुणो के प्रकट करने पर धर्म से हटने की सभावना हो, ऐसे इन सभी कारणो को रोक देना, अपनी प्रशसा अपने मुख से न करना, सुनकर भी आनन्द न मनाना, दूसरो की निन्दा न करना, सुनकर आनन्द नही मनाना, अपने अवगुणो और पर के गुणो की ओर दृष्टि रखना, यही है सम्यग्दर्शन का पञ्चम गुण या अङ्ग उपगूहन।

जिनभक्त—देखो इस अङ्ग की विजयलक्ष्मी को जिनभक्त सेठ ने वरा था। ब्रह्मचारी का भेष धारण कर मूर्ति चुराने के लिए चोर आया था। मौका पाकर मूर्ति चुराकर भागा, परन्तु गश्त लगाते हुए पहरेदार ने देख लिया और शोर मचा दिया। उसे पकडने के लिए पीछे पुलिस के आदमी दौड़े। आगे अपने बँगले पर खड़ा सेठ जिनदत्त मिल गया, उसने भेषधारी ब्रह्मचारी को बुलाया। सब हाल जानकर पीछे पडे राजसैनिको से कहा कि भाइयो, इन्हे क्यो परेशान करते हो, क्या ये चोर हैं? मूर्ति मैंने मँगाई थी। उनके चले जाने पर सेठ ने

चोर को समझाया कि तुझे रत्न ही प्रिय थे तो ब्रह्मचारी क्यो बना, ले चल कितने रत्न चाहिए ? चोर की आंखो मे अश्रु धारा निकल उठी, चरणों में गिर पड़ा, सेठ ने उपदेश देकर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान कराया। उसी समय चोरी का त्याग करके उसने समस्त सङ्ग व सङ्घ का त्याग कर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। पहले तो सेठ ने धर्म व भेष का अपवाद होने से बचाया, दूसरे उसके अवगुण दबाकर उसे सही मार्ग पर लगा दिया। हमको भी ऐसा ही करना है, कहने का आशय यह नहीं है कि कोई भेष की ओट में कितने ही पाप क्यों न करता रहे और हम मौन बैठे रहें। अगर कोई कुछ गलत काम करता है तो उसकी निन्दा न करके उसे ही समझाये तो उसका भी सुधार हो जायेगा और हमाराभी पञ्चम अङ्ग भङ्ग न होगा।

स्थितिकरण अङ्ग—अपने ज्ञायक स्वभाव से च्युत होते हुए स्व, पर आत्मा को वही पर स्थित करना अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्ररूप धर्म से अगर हमारा स्वत: का मन या साधर्मी अन्य किसी भाई का मन, विषय-वासना आदि के कारण से च्युत हो रहा हो, परिणामों के अन्दर शिथिलता आ रही हो तो जैसे बने तैसे डिगने न देना, भ्रष्ट न होने देना, धर्मके अन्दर पुन: स्थित कर देना, यही है स्थितिकरण नामक अङ्ग सम्यग्दर्शन का।

वारिषेण—इस अङ्ग के विजेताओ के अन्दर मुनि वारिषेण का नाम सर्वमान्य है। पुष्पडाल, जो कि उनका मित्र था, किसी कारणवश मुनि बन गया था। मन के अन्दर एक ही चाह लगी थी कि कब मौका मिले और मैं घर भाग जाऊँ। मुनि वारिषेण ने किसी प्रकार उसके अन्दरकी बात जान ली। एक दिन मय पुष्पडालके मुनि वारिषेण अपने घर आये, उनको देखते ही महारानी चेलना के होश उड़ गये। पड़े हुए दो आसनों में से काष्ठ आसन पर मुनि वारिषेण को और स्वर्ण आसन पर पुष्पडाल को बैठा देख वह समझ गई कुछ न कुछ कारण है। वारिषेण मुनि ने अपनी उन सभी रानियो को बुलाया जो अपने सौन्दर्य के सामने देवाङ्गनाओं को भी मात कर रही थीं। उन बत्तीस नववधुओं को देखकर पुष्पडाल के मनमे विचार आया कि वारिषेण इन नववधुओ को छोडकर मुनि बने हैं और मैं उस एक से भी मोह नही छोड़ रहा हूँ, धिक्कार है मुझे ! बस देर ही क्या थी, हो गया सच्चा वैराग्य, कहने लगे—अरे महाराजजी, साधु तो जगल के वासी होते हैं, अपना महलो में बैठने का क्या काम। चलो जल्दी से निर्जन वन की ओर। मुनिपद से डिगते हुए पुष्पडाल को मुनि वारिषेण ने बचा लिया, उनको जहाँ का तहाँ, स्थित कर दिया। यही है स्थितिकरण। हमें भी इस गुण सहित होना है अर्थात् हमारे कोई साधु किसी प्रकार से पदच्युत हो, श्रावक

नियम-व्रतो से च्युत हो रहे हों तो जैसे बने तैसे उन्हे और अपने को स्थित करना, यही होगा स्थितिकरण नामक सम्यग्दर्शन का षष्ठम अङ्ग।

वात्सल्य अङ्ग—वात्सल्य शब्द का अर्थ है प्रीति, प्रेम। अपने आत्म-गुणो में, अभेद रूप रत्नत्रय में, रत्नत्रय के स्वामी आचार्य, उपाध्याय व सर्व साधुओ मे, एक देश से विभूषित श्रावको मे और साधर्मी भाइयो मे गाय-बछड़े के समान प्रीति रखना, किसी भी प्रकार का कष्ट आ जाये तो उसे जैसे बने तैसे निवारण करना-कराना, उनसे धर्मानुराग रखना, यही है वात्सल्य नामक सप्तम अङ्ग।

मुनि विष्णुकुमार—इस अङ्ग में महा ऋद्धियो के स्वामी श्री विष्णु कुमार मुनि प्रसिद्ध हुए हैं। हस्तिनापुर के वन के अन्दर सात सौ मुनिराजो का संघ आया था। समाचार पाते ही राजा दर्शनार्थ मय मन्त्रियों के पधारा। मन्त्री धर्मद्रोही थे। राजा के समाचार ज्ञात होते ही श्री भविष्यज्ञाता अकम्पनाचार्य ने सभी साधुओ से कहा कि ध्यान मे लीन हो जाओ, गुरु आज्ञा पाते ही सभी ध्यान में लीन हो गये। राजा आया और सभीके दर्शन करके पीछे चला गया। मन्त्रियो ने राजा को खूब भडकाया कि देखो यह कैसे साधु हैं आपको आशीर्वाद भी नही दिया। सामने से श्री श्रुतसागर मुनिराज आ रहे थे, उन चारो मन्त्रियोने उनके साथ शास्त्रार्थ किया और अपमानित होकर नगर को चले गये। मुनिराज ने आकर समाचार गुरुदेव से कहे, उन्होने कहा यह आपने अच्छा नही किया, सघ की खैर चाहते हो, तो जाओ उसी स्थान पर ध्यानस्थ हो जाओ। उन्होने ऐसा ही किया। रात्रि को चारो मन्त्रियो ने आकर तलवार का एक साथ वार किया, वनदेवता ने उन्हे वहाँ का वही कील दिया। सुबह होते ही नगर के अन्दर शोर मच गया, वनदेवता ने उन्हे छोड दिया, परन्तु राजा ने काला मुह करवाकर गधे के ऊपर बिठाकर नगर से बाहर निकाल दिया। उज्जैन नगर मे आकर उन चारोंने छलमे अपना अधिकार जमा लिया। राजाके शत्रुको जीत एक वचन माँग लिया। सात सौ मुनिराजो को आये जानकर उन्होने राजा से सात दिन का राज्य माँग लिया। बगीचे के अन्दर विराजे हुए मुनिराजो के आसपास यज्ञ करना प्रारम्भ कर दिया। एक मुनिराज ने निमित्तज्ञान से, घोर उपसर्ग मुनि-राजो के ऊपर जानकर श्री विष्णुकुमार मुनिराज के पास एक विद्याधर क्षुल्लक जी को भेजा। विष्णुकुमार मुनिराज ने आकर ब्राह्मण का भेष बनाया और बलि मन्त्री से तीन पेग जमीन माँगकर सात सौ मुनियोकी रक्षा की, जलने से बचाया, धर्म की लाज रखी, इसे कहते हैं वात्सल्य गुण या अङ्ग। धर्मात्मा रत्नत्रय से भूषित महामुनियो की रक्षा के लिए पद छोड़ दिया, धन्य है। उनने जाकर पुन:

दीक्षा ग्रहण की। उपसर्ग श्रावण शुक्ला पूर्णमासीके दिन दूर हुआ था, उसी दिन से रक्षा बन्धन पर्व प्रारम्भ हो गया। कुछ प्रान्तो के अन्दर तो अभी दीवालों के ऊपर श्रमणों के चित्र बनाते हैं, और उन्हें पूजते हैं, रक्षा की प्रतीक राखी लगाते हैं।

हमको भी वात्सल्य गुण का धारी बनना है, धर्मात्मा जनों के प्रति प्रेम रखना है, इस कार्य के अन्दर हमारा चाहे तन-मन-धन सभी चला जाये तो भी पीछे नहीं हटना है, निश्चय से अपने में, व्यवहार से धर्मात्माओं में हमें पूर्ण वात्सल्य रखना है, अगर बनना है सम्यग्दृष्टि तो, चलना है मुक्ति-पथकी ओर।

प्रभावना अङ्ग—सम्यग्ज्ञानरूपी रथ के अन्दर आत्मारूपी देव को आसीन कराकर उसके प्रभाव को प्रगट करना-कराना, सम्यग्ज्ञानकी सुगन्ध घर-घर जन-जन के अन्दर पहुँचाना, देव-शास्त्र-गुरुओ के तथा धर्म के प्रभाव को नित्य प्रति प्रकट करते रहना, भगवान् की अमृत वाणी को बच्चे-बच्चे तक पहुँचा देना, आवश्यकता होने पर जिनमन्दिर बनवाना, गजरथ आदि निकाल कर उत्सव करना, यह सभी प्रभावना अङ्ग के ही अङ्ग हैं। इस अङ्ग के बिना सम्यक्त्व की क्या परिभाषा है, यह भी सही रूप से समझ में नहीं आ सकेगी। इस अङ्ग मे अनेको प्रसिद्ध हुए हैं जिनमे वज्रकुमार मुनिका नाम अमर है, क्योंकि उन्होने सर्वप्रथम जैनधर्म का रथ निकलवाया था।

यह प्रभावना अङ्ग सभी अङ्गो का राजा है, इसके बिना एक भी अङ्ग पूर्ण नही हो सकता। अत हमें येन-केन-प्रकारेण अपने जो निजी सम्यक्त्व के गुण हैं उन्हे अपनाये रखना है। धर्मकी प्रभावनाके लिए तो हमें हर समय कटिबद्ध रहना है। कही भी धर्मोपदेश आदि कार्य होते हों तो उनकी खबर जन-जन तक पहुँचायें, अपने मित्रों को राजी से नहीं तो जबरदस्ती से ही साथ में लेकर अवश्य आयें सभाओं के अन्दर। यह भी होगा हमारा प्रभावना अङ्ग।

सम्यग्दर्शन के सभी अङ्गों को हमें अपनाना है। अगर एक भी रह गया तो जिस प्रकार अक्षरहीन मन्त्र विष-वेदनाको दूर नहीं करता उसी प्रकार अङ्गहीन सम्यग्दर्शन भी जन्म-मरणरूपी रोग को नष्ट नहीं कर सकता। ऐसा ही श्री समन्तभद्रस्वामी ने अपने रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है—

> नाङ्गहीनमलं छेत्तुं, दर्शनं जन्मसंततिम्।
> न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहंति विषवेदनाम् ॥२१॥

सम्यक्त्व के अन्य गुण—आचार्यों ने सम्यग्दर्शन के और भी आठ गुण बताये हैं—

संवेओ णिव्वेओ णिंदा गर्हा उवसमो भत्ती।
वच्छल्लो अणुकम्पा अट्ठगुणा होन्ति सम्मत्ते ॥
(वसुनन्दिकृत उपासकाध्ययन)

संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा सराग सम्यग्दृष्टि के यह आठ गुण नियम से होते ही हैं।

संवेग— रागद्वेषादि से रहित सच्चे देव, निर्ग्रन्थ गुरु और हिंसारहित धर्म में अनुराग का होना यह सवेग गुण है।

निर्वेद—संसार, शरीर तथा भोगों को दुःखदायी, निन्दनीय तथा विनाशकारक, विनाशवान् जानकर उनसे वैराग्य उत्पन्न होना, दृष्टि का अपनी ओर मुड़ जाना, यही है निर्वेद गुण।

निन्दा—स्त्री, पुत्र, मित्रादि परपदार्थों के निमित्त से जो अपनी राग-द्वेषरूप प्रवृत्ति हो जावे उसके लिए अपने मनमें ऐसा खेद प्रकट करते हुए कि मेरा स्वरूप क्या है और कर क्या रहा हूँ, अपनी निन्दा करना, यही है सम्यक्त्व का तृतीय गुण स्व-निन्दा।

गर्हा—चारित्रमोहिनीयकर्म के उदय से राग-द्वेष-क्रोधादि के वशीभूत होने के कारण जो अपने द्वारा अपराध हो गये हों उनकी, पंचाचार पालन करने वाले आचार्यों के समक्ष, या सामान्य गुरुओं के समक्ष भक्तिपूर्वक आत्मशुद्धि के लिए आलोचना करना यही कहलाता है गर्हा गुण।

उपशम—राग, द्वेष, क्रोध, लोभ आदि से होने वाले प्रपंचों को अन्तरङ्ग में स्थान न देना उपशम गुण है।

भक्ति—श्री जिनेन्द्रदेव, उनकी निर्मल वाणी और निर्ग्रन्थ गुरु आदिके प्रति निष्कपट व निस्वार्थ होकर उनकी पूजा, भक्ति, स्तुति, वन्दना आदि करना, कही जाती है भक्ति।

वात्सल्य—रत्नत्रय से विभूषित व सामान्य साधर्मीजनों के अन्दर निस्वार्थ गाय-बछड़ेके समान प्रीति रखते हुए आहार, औषधि आदि देकर उनकी वैयावृत्य करना, यही है वात्सल्य नामक सम्यक्त्व का गुण।

कारुण्य (अनुकम्पा)—संसार में परिभ्रमण करने वाले दुःखी, दीन, दरिद्र एवं अशक्त जीवो के प्रति करुणा—दयाभाव का रखना अर्थात् उन्हें दुःखों से छुटाने की भावना करना, यही है कारुण्य नामक सम्यक्त्व का आठवाँ गुण।

ये आठो गुण नितप्रति सम्यक्त्व में वृद्धि करने वाले हैं। अतः हमें इन

सभी को इसी समय से अपने जीवन में उतार लेना है। यह आठ गुण मात्र सरागसम्यक्त्वके अन्दर ही पाये जाते हैं, वीतराग में तो मात्र एक स्वानुभूति है।

और भी अष्टगुण—सराग निर्मल सम्यग्दर्शन के प्रगट होने से प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य तथा मैत्री, प्रमोद, कारुण्य व माध्यस्थ्य आदि चार-चार भाव भी प्रकट होते हैं।

प्रशम — कषायों की मन्दता के कारण विषयों के प्रति अरुचिका होना प्रशम गुण है।

संवेग—संसार के दुःखों से भयभीत होकर धर्मानुराग सहित यथाशक्ति संयम का पालन करना ही संवेग है।

अनुकम्पा—प्राणी मात्र पर दयाभाव का होना अनुकम्पा है।

आस्तिक्य—धर्म और धर्म के फल में श्रद्धा, दृढ़ विश्वास का होना, अर्थात् कभी भी कठिन से कठिन अवसर आने पर (रोग, शोक, भय, विस्मय, खेद, दरिद्रता आदि के उपस्थित होने पर) भी अपने मनमें इस प्रकार की शका न होने देना (कि धर्म करने से तो धर्मात्माओ को कष्ट आते हैं और पापी आनन्द मनाते हैं, या यह पचम काल है, इसमें धर्म नही पनता इत्यादि मान्यतायें), यही है आस्तिक्य नामक गुण।

मैत्री—प्राणी मात्र से मैत्रीभाव (प्रेम) रखना अर्थात् उन्हें देखकर हर्ष मनाना और दुःखी देखकर यथाशक्ति उनके दुःखमोचन का उपाय करना ही है मैत्री।

प्रमोद—अपने से बड़े या छोटे पुरुषों में ज्ञान व चारित्र आदि की वृद्धि देखकर प्रसन्न होना है प्रमोद गुण।

माध्यस्थ्य—जो प्राणी विपरीत मार्गगामी है और उनको सन्मार्ग में नहीं लगा सकते है या जो जीव उपदेशादि धर्मामृतको अपने पूर्वोपार्जित मोहादि अशुभ कर्मोदय से विष सदृश आस्वादन करते तथा उल्टे धर्म व धर्मात्माओ पर कलक लगाकर उन्हे कष्ट पहुँचाते हैं, तो ऐसे जीवो से कषायभाव न करके माध्यस्थ्य भाव धारण करना चाहिए, अगर हो सके तो शान्ति भाव से समझाने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए, यही है माध्यस्थ्य भाव। इन सबके अलावा समता, क्षमा, परोपकारिता, धैर्य और पुरुषार्थ आदि अनेक गुणो का भी विवेचन पाया जाता है।

पच्चीस दोष—इस सम्यक्त्वरूपी रत्न को मलिन करने वाले जो पच्चीस दोष हैं अब उनका विवेचन किया जा रहा है, क्योंकि दोष-गुणो को जब

तक हम नहीं समझेंगे तब तक दोषों का त्याग और गुणों में अनुराग बन ही नहीं सकता, अतः गुणो को समझकर अपनाना है और दोषों को समझकर उनका त्याग करना है।

दोषों के नाम

त्रिमूढं च मदाष्टौ च षडेवाऽऽयतनानि च।
शङ्कादयोऽष्टसम्यक्त्वे दोषाः स्युः पञ्चविंशतिः॥

[धर्मसंग्रहश्रावकाचार]

अर्थ—तीन मूढ़ता-देवमूढता, लोकमूढता और गुरुमूढता। अष्ट मद—ज्ञान, कुल, जाति, बल, सम्पत्ति, तपश्चरण, रूप और ऐश्वर्य। छह् अनायतन—कुदेव, कुगुरु, कुधर्म और कुदेव सेवक, कुगुरु सेवक एवं कुधर्म सेवक। आठ दोष—शका, कांक्षा, ग्लानि, मूढ़दृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना। इस प्रकार से इन पच्चीस दोषों के ये नाम हैं। अब आगे सक्षेप से इन सबका स्वरूप बताया जा रहा है।

देवमूढ़ता—भय, आशा, स्नेह अथवा पुत्र, धन, स्त्री, ख्यातिलाभ आदि के लोभ से रागी-द्वेषी ससारी देवों को पूजना, स्तुति-प्रशंसा करना, उनका कहना मानकर उनके अनुकूल आचरण करना यही है देवमूढ़ता अर्थात् जो अठारह दोषो से रहित नही है, अनन्त चतुष्टय आदि गुणों से सहित नही है, ऐसे बनावटी देवो की मान्यता किसी लौकिक कार्य की सिद्धि की भावना से या अज्ञानवश की जाती है वह देवमूढता है, और सच्चे देव की पूजन-स्तुति मोक्षफल की चाह न कर मात्र लौकिक कार्यसिद्धि के लिए की जाती है वह भी देवमूढता के अन्दर आ जायगी। ज्ञानी पुरुष भगवान् से कुछ मांगता नहीं है—मात्र तन, मन, धन, वचन से भक्ति करता है क्योंकि वह जानता है कि भगवान् तो कुछ लेते देते नही। कार्य की सिद्धि तो पूर्व पुण्य या भक्ति से प्राप्त किये हुए पुण्य के बल से होती है। कुदेवो को पूजने से तो हमारे कार्यों की सिद्धि तीनों काल में नही हो सकती। वे तो खुद ही दुःखी हैं, हमें कैसे सुखी बना सकते हैं। अतः हमें इसी समय देवमूढ़ता का त्याग करना है, अगर नहीं किया तो सम्यक्त्वरूपी रत्न प्रकाश में नहीं आ सकता।

गुरुमूढ़ता—जो आरम्भ-परिग्रह के धारी, विषयासक्त, संसारचक्र में भ्रमण करने वाले, पाखण्डी, मात्र भेषधारी, मायाचारी, लोभी, क्रोधी, कामी आदि अवगुणों की खानि होते हुए भी अपने को गुरु मनवाते हैं, वास्तव में वे सभी कुगुरु ही हैं। उनको मानना, गुरु मानकर आहार देना, यही है गुरुमूढ़ता। दिगम्बर होते हुए भी पैसे के लोभी हों, रसना के तीव्र लोलुपी हों, धन की या

ख्याति-लाभ की इच्छा से श्रावकों को मन्त्र-यन्त्र देते हों, लोगों को अपने भक्त बनाने की भावना से हस्त-रेखा देखते हों, तेरह प्रकार के चारित्र का पालन न करते हो, प्रतिक्रमण, सामायिक आदि न करते हों, संसार, शरीर, भोगों की ही सामग्रीके अन्दर जिनकी आसक्ति हो वे हमारे सद्गुरु नहीं हैं। जो संसार, शरीर, भोगों से विरक्त हैं, अठ्ठाईस मूलगुणों के धारी हैं, विषय-आसक्ति से रहित हैं, ध्यान और अध्ययन मे लीन हैं बस वही हमारे गुरु हैं। ऊपर कहे सभी कुगुरु हैं, इनको भक्ति करना, आहार देना, उनके अनुकूल चलना यह सभी गुरुमूढ़ता के अन्दर हैं।

लोकमूढ़ता—बिना समझे अर्थात् हिताहित का विचार किये बिना, गुण-दोषों की परीक्षा किये बिना लोगों की देखा-देखी लोक प्रचलित मान्यताओं को धर्म मानकर स्वीकार करना ही लोकमूढ़ता है। जैसे पर्वत आदि से गिरकर प्राण छोडने में धर्म मानना, काशी-करवट आदि को धर्म मानना, देवी-देवताओं की पूजा मे धर्म मानना, जिनेन्द्र भगवान् को कर्ता-धर्ता मानकर उनसे मन्दिर में पुत्र, धनादि मांगना और बिना सोचे-समझे चलती हुई रूढ़ियों पर चलते रहना, यह सभी लोकमूढता है। हमें इन सभी बातों से अपने आपको मोड़ लेना, लोकमें प्रत्येक कार्य सोच-विचार कर ही करना है, तभी बच पायेंगे लोकमूढ़ता से, तभी हो सकगी सम्यक्त्वरूपी रत्न की रक्षा।

शंकादि दोष—पूर्व कथित निःशंकित आदि अङ्ग से एकदम विपरीत परिणति होना, वही है शंकादि दोष अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् की अमृतवाणी के अन्दर शंका करना, धर्म को धारण कर भोगों की इच्छा करना। रत्नत्रय से पवित्र मुनिराज आदि के शरीर को देखकर ग्लानि करना। ढोंगियों के प्रभाव के अन्दर फंसकर मूढ हो जाना। अपने गुण और दूसरो के दोष प्रकट करना। धर्ममार्ग से डिगते हुए का स्थितिकरण न करना। रत्नत्रय के धारी और साधर्मी भाइयो से वात्सल्य न रखना और अपने धर्म की प्रभावना न करना, यह सब ही मिलकर अष्ट शंकादि दोष है। अब आगे अष्ट मदो को बताया जा रहा है।

अष्ट-मद—एक मद ऐसा दूषण है जो सम्यक्त्वरूपो रत्न को छिपाकर मलिन कर देता है। अभिमान के वशीभूत होकर जो अपने को ऊँचे उठाने के भाव और दूसरों को नीचा दिखाने के भाव हैं वहीं है अभिमान। इसके आठ भेद हैं—जाति, कुल, रूप, सपदा, बुद्धि, बल, तप और पूजा। आगे क्रमशः इनका स्वरूप बताते हैं।

जाति-मद—मातृपक्षको जाति कहते हैं। मन से इस प्रकारका घमण्ड करें कि मेरे नाना या मामा आदि राजा हैं, उनका प्रभुत्व यत्र-तत्र सर्वत्र फैला

हुआ है, उनके माध्यम से मैं जो चाहूँ सो कर सकता हूँ, ऐसी भावना का नाम ही जातिमद है।

कुल-मद—अपना जन्म उच्चकुल अर्थात् राजा, सेठ, एवं सर्वश्रेष्ठ वंश के अन्दर हुआ हो, तो उसका गर्व करना या कुल का कोई व्यक्ति प्रतिष्ठित पद पर हो उसका लोगो के समक्ष अभिमान करना ही कहा जाता है कुलमद।

रूप-मद—दूसरो के समक्ष अपनी सुन्दरता की प्रशसा करना, दूसरों के रूप को अपने सौन्दर्य के सामने कुछ न समझना, यही है रूपमद।

धन-मद—पूर्व पुण्य से प्राप्त लक्ष्मी के ऊपर अभिमान करना कि मेरे समान पैसेवाला है ही कौन ? मैं चाहूँ तो दस-पाँच सेठो को तो खरीद सकता हूँ, यही है बस धन-मद।

ज्ञान-मद—अपने पास कुछ ज्ञान होने पर इस प्रकारका घमण्ड करना कि मेरे समान ससार में ज्ञानी है ही कौन ? मैं इतनी भाषाओ का ज्ञाता हूँ, अगर कोई किसी की प्रशसा कर रहा हो तो कहना कि वह तो मेरे सामने कुछ भी नही जानता इत्यादि ज्ञान-मद कहा जाता है।

बल-मद—अपने शरीर के अन्दर अच्छी शक्ति होने पर इस प्रकार चिन्तवन करना कि दुनियाँ के अन्दर मेरे समान बलवान् है ही कौन ? कुश्ती लडकर के भी कोई जीतने वाला नही, मैं सबको मात कर सकता हूँ, यही है बल-मद।

तप-मद—अपने अन्दर कुछ तप की शक्ति होने पर यह कहना कि मेरे समान तपस्वी कोई है ही नही ? मेरे अन्दर इतने-इतने उपवास करने की शक्ति है और कोई दूसरो की बात करे तो वहाँ पर अपने तप की प्रशंसा करके अभिमान करना, यही है तप-मद।

पूजा-मद—अपने मुख से अपनी इस प्रकार की प्रशसा करना कि मैं जहाँ भी जाता हूँ वही पर अनेको लोग स्टेशन पर लेने को आ जाते हैं, अनेकों जगह इस प्रकार के स्वागत होते हैं, सभी लोग मेरी प्रशंसा करते हैं, सभी लोग मेरी आज्ञा मानते हैं, और भी लोक मे अपनी पूजा-प्रतिष्ठा का अभिमान करना, यही है पूजा-मद।

ये सभी प्रकार के मद हमारे शत्रु के बराबर हैं, दुःख का मूल हैं, दुर्गति की निशानी हैं, गुणो पर पानी फेरने वाले हैं, सम्यक्त्व को दूषित करने वाले हैं, और इन मदो के चक्कर मे फँसकर बडे-बड़े राजा-महाराजा, गुणी पुरुष भी अपना सर्वस्व खो बैठते हैं, अत अहित के कारण इन सभी प्रकार के मदो का

त्याग है इसी समय से।

छह अनायतन—आठ शंकादिक, व आठ मदों, इस प्रकार अभी तक सम्यग्दर्शन को दूषित करने वाले सोलह दूषणों का स्वरूप समझा। अब समझना है उन अनायतनोंको, जिसके कारण इन शंकादिक एवं मदोंको स्थान मिलता है।

अनायतन छह होते हैं—कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, कुगुरु को मानने वाले, कुदेव को मानने वाले, कुधर्म को मानने वाले। इन सबकी मान्यता व प्रशंसा का त्याग ही छह अनायतनों का त्याग है। अर्थात् जो दिगम्बर गुरु नहीं हैं, धर्म और लोक विरुद्ध चलते हैं, भोले प्राणियों को चलाते हैं, ऐसे कुगुरुओं की सेवा करना, उनके अनुकूल चलना, उनकी प्रशसा करना, इनके मानने वालों की प्रशंसा करना। जो सर्वदर्शी, हितोपदेशी, वीतरागी नहीं है, रागी हैं ऐसे कुदेवों की मान्यता करना, प्रशसा करना, और उनके पुजारियों की प्रशंसा करना, संगति करना। जो अनेकान्तमय न हो, अहिंसा की जगह पर जिसमें हिंसा का प्रचार होता हो, दया का कोई स्थान न हो, ऐसे सभी कुधर्मों का आलम्बन लेना, उनके अनुकूल आचरण करना, और ऐसे कुधर्म के सेवकों की किसी लोभ के कारण प्रशसा करना। ये सभी अनायतन नामक दोष हैं। अगर अपने सम्यक्त्वरूपी रत्न को निर्दोष रखना चाहते हैं तो इसी क्षण इन छह अनायतनोंका त्याग कर दें, इन सब कुमार्गियो से अपने आपको बचाकर धर्मायतनों के अन्दर अपने उपयोग को लगावें।

इस प्रकार क्रमशः पच्चीस दोषों का विवेचन किया। ये दोष हमारे महाशत्रु हैं, अगर इनका अश भी हमारे अन्दर रह गया तो पुनः सभी दोष उसी प्रकार अपना अधिकार जमा लेंगे, जिस प्रकार खुजली का छोटा-सा चिट्टा पूरे अङ्ग पर अधिकार जमा लेता है। अतः हमें सभी दोषों को जड़ से उखाड़कर फेक देना है और सम्यग्दर्शन के सभी गुणों या अङ्गों को अच्छी तरह से जीवनमें उतार कर निर्मल सम्यग्दृष्टि बनना है, मुक्ति-पथकी ओर चलना है।

सप्त भय—सम्यग्दृष्टि जीव अष्ट अङ्गों से सहित और पच्चीस दोषों से रहित होता है, तथा साथ ही सप्त भय का भी त्यागी होता है। सप्त भय के रहते हुए अङ्गों को स्थान और दोषों को निकालने का रास्ता नहीं मिलता, अतः हमें सप्त भय के स्वरूप को जानकर अपने अन्दर से निकाल देना है।

इस भव भय परलोक भय, मरण वेदना त्रास।
अनरक्षा अनगुप्ति भय, अकस्मात् भय जास॥

इस लोक भय, परलोक भय, मरण भय, वेदना भय, अरक्षा भय, अगुप्ति भय और अकस्मात् भय। सम्यग्दृष्टि नियम से इन सप्त भयों से मुक्त होता है।

इस लोक भय—इस लोक सम्बन्धी भय अर्थात् इष्ट का वियोग न हो जाय, अनिष्ट का संयोग न हो जाय, धन वैभव नष्ट न हो जाय, लोक के अन्दर मेरी प्रतिष्ठा कम न हो जाय इत्यादि अनेक प्रकार के इस लोक सम्बन्धी भय से सम्यग्दृष्टि परे होता है कारण कि उसको इस बात का निर्णय हो चुका है कि जिस समय जो होनेवाला है वह होकर ही रहेगा, मेरा काम तो मात्र पुरुषार्थ करने का है।

पर लोक भय—परलोक अर्थात् अगले भव की इस प्रकार चिन्ता करना कि मैं कहाँ मरण कर जाऊँगा, कही दुर्गति के अन्दर न चला जाऊँ, ऐसे सुख फिर मिलेंगे या नहीं, ऐसे अनेक प्रकार के परलोक सम्बन्धी भय सम्यग्दृष्टि के नहीं होते।

मरण भय—हर समय मरण का नाम लेते ही कांप जाना, कही मैं मर न जाऊँ, हर समय अपने को न मरने देने के उपायो के अन्दर लगे रहना, यह मिथ्यादृष्टि का काम है, सम्यग्दृष्टि तो इससे निश्चिन्त होता है, बचने के लिए उपचार अवश्य करता है। परन्तु मरण से डरता नही है।

वेदना भय—शरीर के अन्दर वात-पित्तादि, ज्वर पीड़ादि रोग उत्पन्न न हो जायें, इसी प्रकार की चिन्ता से भयभीत रहना, रोग या वेदना होने पर चिल्लाना, व्याकुल हो जाना कि अब क्या होगा मेरा, मैं रोग से किस प्रकार मुक्त होऊँगा, यह भय मिथ्यादृष्टि को ही होता है, सम्यग्दृष्टि को नही।

अरक्षाभय—मिथ्यादृष्टि सोचता है कि हाय मेरा कोई रक्षक नही है, दुःख पड़ने पर कोई सहायक नहीं है, अब किसकी शरण में जाऊँ, परन्तु सम्यग्दृष्टि इस प्रकार के विचारों से मुक्त होता है।

अगुप्ति भय—किसी राजा आदि के पास दृढ़ किला कोट न हो तो वह डरता है, भयभीत रहता है परन्तु सम्यग्दृष्टि के पास न हो तो भी वह भयभीत नहीं होता।

अकस्मात् भय—आकस्मिक घटनाओं से डरना, उनके नाम मात्र से भयभीत होना, जैसे बिजली गिरने, भूकम्प होने, बाढ़ आने, अग्नि लगने इत्यादि अनेक प्रकार की घटनाओं से, अन्तरङ्ग से सम्यग्दृष्टि भयभीत नही होता। उसके अन्दर तो यह निश्चल निर्णय है कि जिस समय जैसा होना होगा वैसा ही होगा। सम्यग्दृष्टि के अन्दर भेदज्ञान छिपा रहता है उसके कारण सप्त भय आदि अवगुणों को स्थान नहीं मिल पाता। इस प्रकार सप्त भयों को संक्षेप में बताया। ये महान् दुःखके कारण हैं, अतः हमें इनका निश्चितही त्याग करना है।

समस्त दोषो का हमने त्याग कर दिया, समस्त अङ्गों व गुणों को अपना लिया, और भी अनेक गुण व दोष सम्यक्त्व के अतिचारादि को आगम से समझ कर त्याग-ग्रहण करना है तभी पूर्ण सम्यक्त्वरूपी रत्न से विभूषित हो सकेंगे, शान्ति से निजमें रह सकेंगे, परभावों से मुक्त हो सकेंगे, इस महान् अनादि ससार के अन्दर हम क्या हैं, क्या हमारा स्वरूप है, कहाँ से आये हैं और कहाँ जाना है, क्या करना है इन सब बातों से परिचित हो जायेंगे। सही दृष्टि से सर्वप्रथम हमें अपने आपको ही जानना है। ऐसा ही श्री देवेन्द्रकुमार जैन ने अपनी एक अंग्रेजी कविता के अन्दर लिखा है—

O friends ! See yourself,
with a right view.
In this great world,
What are you ?

हे मित्रो, सही दृष्टि से देखो कि इस महान् संसार के अन्दर आप क्या हैं ? अर्थात् इस घोर दु:खमय संसार के अन्दर रहते हुए भी सर्वप्रथम हमें अपने को जानना है, सिद्धों के समान जो हमारा अमल, अखण्ड, अविनाशी, ज्ञायक-स्वभावी आत्मा है उसे पहचानना है। यह सभी कार्य सम्यग्दर्शन के सद्भाव में ही होगे। अपने परमोपकारी आचार्यो का बार-बार कहना ही यह है कि किसी-न-किसी प्रकार से सर्वप्रथम अपने स्वभाव का श्रद्धान अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है तभी लग सकेंगे मुक्ति पथ पर।

सम्यक्त्व-नमस्कार—जगत् में सर्वप्रथम वन्दनीय व प्रशंसनीय है तो सम्यग्दर्शन है। आचार्यों ने जगह-जगह सम्यक्त्व की प्रशसा और उसे नमस्कार किया है। सम्यग्दर्शन को नमस्कार—

भीमानेकभवप्रपञ्चविपिनान्निःसर्पणे सार्थवाट्,
नानादुःखमहासमुद्रभयतो निस्तारणे नौरिव।
सान्द्राज्ञानतमःसमूहदलने भास्वानिव व्युत्थितं,
साम्यक्त्वत्रितयं नमामि तदहं तस्यैव संशुद्धये ॥

जो भयंकर अनेक पर्यायों के विस्ताररूप वनसे निकालने में सार्थवाह (प्रमुख बनजारा) है, नाना दु:खरूप महासमुद्र के भय से निकालने में नौका के समान है और अज्ञानरूपी सघन अन्धकार के समूह को नष्ट करने में उदित हुए सूर्य के समान है उस सम्यक्त्वत्रितय—औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन तीनो सम्यग्दर्शनों को उन्हीं की शुद्धि के लिए नमस्कार करता हूँ।

दुर्लभता से प्राप्ति—

पिधानं दुर्गतेर्द्वारां निधानं सर्वसंपदाम् ।
विधानं मोक्षसौख्यानां पुण्यैः सम्यक्त्वमाप्यते ॥१५॥

जो दुगति के द्वारों को बन्द करने वाला है, समस्त सपदाओ का भण्डार है और मोक्ष सम्बन्धी सुखो को करने वाला है, ऐसा सम्यग्दर्शन किसी महान् पुण्य के उदय से प्राप्त होता है।

धर्मसग्रहश्रावकाचार में भी इसी प्रकार कहा गया है।

सम्यक्त्वं दुर्लभं लोके सम्यक्त्वं मोक्षसाधनम् ।
ज्ञानचारित्रयोर्बीजं मूलं धर्मतरोरिव ॥

इस महाविकट संसार के अन्दर सम्यग्दर्शन का प्राप्त होना महादुर्लभ है, यही मोक्ष का मुख्य साधन है और यही ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति के लिए बीज के सदृश्य धर्मरूपी वृक्ष को स्थिरता के लिए मूल-जड़ के समान है।

सम्यक्त्व के बिना सब निष्फल

ध्यानं दुःखनिधानमेव तपसः संतापमात्रं फलं,
स्वाध्यायोऽपि हि बन्ध्य एव कुधियां ते निग्रहाः कुग्रहाः ।
अश्लीलाः खलु दानशीलतुलना तीर्थादियात्रा वृथा,
सम्यक्त्वेन विहीनमन्यदपि यत्तत्सर्वमन्तर्गडुः ॥१८॥

अज्ञानी प्राणियों का ध्यान दु:ख का भण्डार ही है, उनके तप का फल संताप मात्र है, स्वाध्याय भी निश्चय से निष्फल है, इन्द्रियनिग्रह भी दुराग्रह है, दान और शील की महिमा पूर्ण फलदायक नही है, तीर्थादि की यात्रा भी व्यर्थ है। परमार्थ से सम्यक्त्व के बिना अन्य सभी कार्य भीतर से निष्फल हैं। और भी कहा है—

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः ।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम् ॥१५॥

(आत्मानुशासन)

इन्द्रियनिरोध, ज्ञान, आचरण और तप यदि सम्यक्त्वरहित हो तो ये पत्थर की तरह भारी हैं, यदि सम्यक्त्व सहित हो तो महामणि की तरह पूज्नीय हैं। आशय यह है कि ज्ञान, सयम और तप सम्यक्त्व के बिना निरर्थक हैं।

सम्यक्त्व से बढ़कर अन्य नहीं

> सम्यक्त्वरत्नान्न परं हि रत्नं,
> सम्यक्त्वमित्रान्न परं हि मित्रम् ।
> सम्यक्त्वबन्धोर्न परो हि बन्धुः,
> सम्यक्त्वलाभान्न परो हि लाभः ॥१७॥

जगत् के अन्दर सम्यक्त्वरूपी रत्न से बढकर दूसरा रत्न नहीं है, सम्यक्त्वरूपी मित्र से बढ़कर दूसरा मित्र नही है, सम्यक्त्वरूपी भाई से बढ़कर दूसरा भाई नही है, और अधिक क्या कहा जाय सम्यक्त्व से बढ़कर दूसरा लाभ नही है ।

सम्यक्त्व की महिमा—सम्यग्दर्शन की महिमा बताते हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे इस प्रकार लिखा है—

> सम्यग्दर्शनसंपन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।
> देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥२८॥

गणधरादि देव सम्यग्दर्शन सहित चाण्डाल को भी राख से ढके हुए अंगार के भीतर विद्यमान प्रकाश के समान देव कहते हैं। जैसे ऊपर की राख से अंगार राख सरीखा मालूम होता है परन्तु उसके भीतर अग्नि जरूर छिपी रहती है। ठीक इसी प्रकार यद्यपि सम्यक्त्वी चाण्डाल ऊपर से तो चाण्डाल-सा ही दिखता है, फिर भी उसके अन्तरङ्ग में सम्यग्दर्शन की जागती हुई ज्योति छिपी रहती है, इस कारण उसे देव के समान माना गया है। और भी कहा है—

> दर्शनज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते ।
> दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते ॥३१॥

ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा (सर्वप्रथम) सम्यग्दर्शन की मुख्यतया उपासना की जाती है, क्योंकि वह सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग में खेवटिया के समान कहा जाता है। और भी देखिये—

> विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः ।
> न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥३२॥

सम्यग्दर्शन के न होने पर, बीज के बिना वृक्ष के समान ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि तथा फल का लगना नहीं बनता अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नहीं होता।

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यग्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरि व्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥३५॥

जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध हैं वे व्रतरहित होने पर भी नारक, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्रीपने को तथा नीचकुल, विकलांग, अल्पायु और दरिद्रपने को प्राप्त नहीं होते । और भी—

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः ।
दृष्टचा सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ॥३९॥

सम्यग्दर्शन के प्रभाव से भले प्रकार निश्चय कर लिए हैं जीवादिक पदार्थ जिन्होने ऐसे तथा इन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्रो और गणधरो द्वारा नमस्कृत किये गये हैं चरणकमल जिनके ऐसे, धर्मचक्र के धारक तीर्थंकर होते हैं, जो तीनों लोक के जीवो के शरणभूत होते हैं ।

शिवमजरमरुजमक्षयमव्यावाध विशोकभयशङ्कम् ।
काष्ठागतसुखविद्याविभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः ॥४०॥

सम्यग्दर्शन ही है शरण जिनकी ऐसे भव्य जीव जरा-रहित, रोगरहित, क्षयरहित, बाधारहित, शोक, भय, शंका से रहित, परम प्रकर्षता को प्राप्त हुआ है सुख और विद्या का बिभव जिसमे ऐसे कर्ममल रहित मोक्षपद को प्राप्त होते हैं । सम्यक्त्वकौमुदी मे भी कहा है ।

तावद्भीमो भवाम्भोधिस्तावज्जन्मपरम्परा ।
तावद् दुःखानि यावन्न सतां सम्यक्त्वसंभवः ॥१९॥

जब तक मनुष्यों को सम्यक्त्व की प्राप्ति नही होती तभी तक उनका संसार सागर भयंकर रहता है, तभी तक उनकी जन्मसन्तति चलती रहती है और तभी तक उन्हें अनेक दुःखो का सामना करना पड़ता है और भी—

भवेद्वैमानिकोऽवश्यं जन्तुः सम्यक्त्ववासितः ।
यदि नोद्वान्तसम्यक्त्वो बद्धायुर्नापि वै पुरा ॥२१॥

यदि इस जीव ने सम्यक्त्व को छोड़ा नही है और न सम्यक्त्व से पहिले किसी आयु का बन्ध ही किया है तो सम्यक्त्व की वासना से युक्त वह जीव नियम से वैमानिक देव होता है । अन्तर्मुहूर्त का सम्यक्त्व भी लाभप्रद होता है ।

अन्तर्मुहूर्तमपि यः समुपास्य जन्तुः,
सम्यक्त्वरत्नममलं विजहाति सद्यः।
बम्भ्रम्यते भवपथे सुचिरं न सोऽपि,
तद्बिभ्रतश्चिरतरं किमुदीरयामः ॥२३॥

जो जीव अन्तर्मुहूर्त के लिए भी निर्मल सम्यक्त्वरूपी रत्न की उपासना कर उसे शीघ्र ही छोड़ देता है, वह भी संसार के मार्ग मे चिरकाल तक नहीं भटकता, फिर जो उसे दीर्घ काल तक धारण करता है उसकी तो बात ही क्या अर्थात् वह तो नियम से एक-दो अधिक से अधिक चार भव के अन्दर मोक्ष जायेगा। और भी—

धर्मकल्पतरोर्मूलं द्वारं मोक्षपुरस्य च।
संसाराब्धौ महापोतो गुणानां स्थानमुत्तमम् ॥२४॥

यह सम्यग्दर्शन धर्मरूपी कल्पवृक्ष की जड़ है, मोक्षरूपी नगरका द्वार है, संसाररूपी महासागर से निकलने के लिए बड़ा भारी जहाज है और गुणो का उत्तम स्थान है।

निधानं सर्वलक्ष्मीणां हेतुस्तीर्थकृत्कर्मणः।
पालयन्ति जना धन्याःसम्यक्त्वमिति निश्चलम् ॥२५॥

सम्यग्दर्शन सब लक्ष्मियो का भण्डार, तीर्थंकरनामकर्म के बन्ध का हेतु है। धन्य भाग्य है उनका जो मनुष्य निश्चलरूपसे सम्यग्दर्शनका पालन करते हैं।

सम्यग्दर्शन की महिमा अपार है, जिसका उल्लेख करते-करते एक महान् ग्रन्थ बन जायेगा, परन्तु महिमा पूर्ण न होगी। कुन्दकुन्द स्वामी ने यहाँ तक कहा है कि—

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥३॥
(दर्शन पाहुड़)

सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव ही भ्रष्ट कहा जाता है। सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव को निर्वाणपद नहीं होता है। चारित्ररहित को तो कभी भी (चारित्रपूर्ण होकर) सिद्धि हो सकती है, पर दर्शनभ्रष्ट तो कभी भी सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता है अर्थात् सम्यक्त्वरूपी नौका के ऊपर आसीन हुए बिना संसार-सागर से पार नहीं हो सकते। अतः हमें इसी समय तत्त्व निर्णयकर यथार्थ श्रद्धानपूर्वक परपदार्थों से भिन्न अपने आपमे अपनी रुचि, प्रतीति, अनुभूति करनी है।

सम्यक्त्वी भोगों में लीन नहीं—सम्यग्दृष्टि जीव संसार, शरीर और भोगो में आसक्त अर्थात् लीन नही होता। कहा भी है—

धात्रीबालासतीनाथ–पद्मिनीदलवारिवत् ।
दग्धरज्जुवदाभाति भुञ्जानोऽपि न पापभाक् ॥

सम्यग्दृष्टि धायमे आसक्त न होने वाले बालक की तरह, असतीनाथ यानि व्यभिचारिणी स्त्री को आसक्तिपूर्वक नही सेवन करने वाले पुरुष की तरह और कमलिनी के पत्तो पर पड़े चंचल जल की तरह सासारिक विषयो को भोगता हुआ अर्थात् आवश्यक कर्मो को करता हुआ भी जली हुई रस्सी की तरह पाप का भागी नही होता—अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी कर्मो का बन्ध नही होता। बन्ध न होने का कारण है ज्ञान और वैराग्य।

सम्यग्दृष्टि के ज्ञान-वैराग्य

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः,
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।
यस्माज् ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च,
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥१३६॥

(समयसार)

सम्यग्दृष्टि जीव के नियम से ज्ञान और वैराग्य की शक्ति होती है; क्योकि यह सम्यग्दृष्टि अपने वस्तुपना यथार्थ स्वरूप का अभ्यास करने को अपने स्वरूप का ग्रहण और परके त्याग की विधिकर "यह तो अपना स्वरूप है और यह परद्रव्य का है ऐसे" दोनो का भेद परमार्थसे जानकर अपने स्वरूप में ठहरता है और परद्रव्य से सब तरह राग का योग छोड़ता है, सो यह रीति ज्ञान-वैराग्य की शक्ति के बिना नही होती।

सम्यग्दृष्टि का ही वैराग्य सच्चा है, चाहे वह घर में हो या वन मे। सम्यग्दृष्टि निश्चय से परका कर्त्ता-भोक्ता नही बनता, परको भी अपना कर्त्ता नही मानता, आत्मा को कर्ममय और कर्मों को आत्मामय नहीं मानता, ससार-शरीर, भोगोके अन्दर आसक्त नही होता, अनिष्टसंयोग मिलने पर खेदखिन्न नही होता, धन-पुत्रादि के अन्दर भी तीव्र अनुराग नहीं करता। ज्यादा क्या कहा जाय, सम्यग्दृष्टि आवश्यक गृहकार्यों को करता हुआ भी कर्त्ता नही है और भोगता हुआ भी भोक्ता नही है, सबके बीच रहता हुआ भी कीचड़ के अन्दर पड़े हुए स्वर्ण के समान निर्मल रहता है, ससार के अन्दर रहता हुआ भी जल के अन्दर

कमल के समान पृथक् रहता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि तो संसार के अन्दर रहता है परन्तु उसके अन्दर संसार नही रहता । यही कारण है कि आचार्यों ने ससार में रहते हुए भी सम्यग्दृष्टि को अपने मे ही बताया है ।

समकित-चिन्तामणि रतन, समकित सुखका कूप ।
समकित मारग मोक्षका, समकित निजीस्वरूप ॥१०६॥

निष्कर्ष—हमें इस सम्यक्त्वरूपी रत्नको शाश्वत अपने पास ही रखना है, अगर हमारे पास नहीं हैं तो जैसे बने तैसे इसकी प्राप्ति हमें इसी समय कर लेना है, कारण कि इसके बिना मोक्षमार्ग नहीं दिखता । सम्यग्दर्शन को मोक्ष-महल की प्रथम सीढी कहा है । सम्यग्दर्शन के होते ही सम्यग्ज्ञान हो जाता है और सम्यग्ज्ञान के होते ही हमें सम्यक्चारित्र स्वीकार करना है, सम्यक्चारित्र को स्वीकार (सम्यक् आचरण) करते ही हो जायेगा चलना शुरु मुक्ति-पथकी ओर ।

मित्रो ! सम्यक् रतनको शाश्वत रखे समार ।
करके निजमें आचरण भवोदधि उतरें पार ॥
लघु बुद्धिके कारणें भूल जो इसमें होय ।
भविजन पढ़ना शुद्धकर तो मुक्ती-पथ जोय ॥

ॐ शान्तिः ।

इस प्रकार यह चतुर्गति दुःख, कषाय, मिथ्यात्व और सम्यग्दर्शन विवेचन करने वाला, मुक्ति-पथकी ओर पुस्तक का तृतीय भाग आज वि० स० २०३३ मिती भाद्रपद कृष्णा चतुर्दशी मगलवार दिनाक २५/८/१९७६ को सागर नगर में बाहुबली मन्दिर, वर्णी भवन में पूर्ण हुआ ।

ॐ जय सन्मतिः ।

卐

भजन

जैसे ज्ञान रहित करनी अन्धी है धक्के खाती है।
ईर्ष्या तृष्णा की भट्ठी मे जलती है चिल्लाती है॥
उसी तरह से बिना क्रिया के ज्ञान पंगु है थोथा है।
जो चारित्रहीन है उसको कहने भर का पोथा है॥

ज्ञान आंख तो क्रिया पैर है, क्या यह समझाना होगा।
पढ़ लेना ही पूर्ण नही है जीवन में भी लाना होगा॥
कोरी कथनी शब्द जाल है करनी ही फलदाता है।
अक्षर ज्ञान व्यर्थ यदि करते नही कहा जो जाता है॥

पडित बनना बुरा नही लेकिन इस पर तो गौर करो।
क्या जीवन मे उतार पाये जो कुछ भी शोर करो॥
यदि उपयोग नही कर पाये ज्ञान व्यर्थ ही जायेगा।
लाद पुस्तकें गधा पीठ पर क्या ज्ञानी कहलायेगा॥

गिद्ध उडे ऊँचा कितना ही, नभ से कभी विचार किया।
सदा जमी पर पड़े मास टुकडो से उसने प्यार किया॥
यो बकबादी बाते करता, लम्बी चौडी बड़ी-बड़ी।
किन्तु विषय भोगो की चरबी खाता रहता पड़ी सडी॥

किसी आम के वृक्ष तले दो व्यक्ति कही से आये थे।
एक लगा पत्तो को गिनने, दूजे ने फल खाये थे॥
खाने वाला चतुर मात्र गिनने वाला मूरख जानो।
इसी तरह ग्रन्थो का पाठी और अनुभवी पहचानो॥